ट्रेक्ट संख्या ८९

मौर्यसाम्राज्य के जैनवीर

लेखक—

अयोध्याप्रसाद गोयलीय 'दास'

भूमिका-लेखक—

साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथजी रेउ,

एम० आर० ए० एस०,

सुपरिण्टेण्डेण्ट सरदार म्यूजियम तथा सुमेर पब्लिक लायब्रेरी

और

भूतपूर्व प्रोफेसर जसवन्त कालेज, जोधपुर

प्रस्तावक—

श्री० जैनेन्द्रकुमार

प्रकाशक—

जैन-मित्र-मण्डल धर्मपुरा, देहली।

प्रथमावृत्ति
१०००

मगसिर, १९८९ विक्रम,
वीर-निर्वाण सं० २४५९
नवम्बर १९३२ ई०

मूल्य
।=)

प्रकाशक—

जैनमित्र-मण्डल,

धरमपुरा, देहली।

मुद्रक—

जे० बी० प्रिंटिंग प्रेस,

चाँदनी-चौक, देहली।

स्वर्गीय

पूज्यमामाजी

की

पवित्र स्मृति

में

समर्पित

विषय-सूची

भूमिका

हमें यह देखकर हर्ष होता है कि कुछ अरसे से भारत के नवयुवकों का ध्यान अपने भूले हुए प्राचीन गौरव को फिर से सर्वसाधारण के सामने उपस्थित करने की तरफ जाने लगा है। यह मौर्यसाम्राज्य के जैनवीर भी उसी प्रकार के प्रयत्न का एक अङ्ग है। इस पुस्तक की भाषा मनको फड़काने-वाली; युक्तियाँ सप्रमाण और ग्राह्य तथा विचार शैली सांप्रदायिकता से रहित, समयोपयोगी और उच्च हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि इसे एकबार आद्योपान्त पढ़लेने से केवल जैनों के ही नहीं प्रत्युत भारतवासी मात्र के हृत्पट पर अपने देश के अतीत गौरव के एक अंश का चित्र अङ्कित हुए बिना न रहेगा। ऐसा कौन अभागा भारतवासी होगा जो अयोध्या-प्रसादजी गोयलीय की लिखी भारत की करीब साढे बाइस सौ वर्ष पुरानी इस सारगर्भित और सच्ची गौरव गाथा को सुन कर उत्साहित न होगा ?

पुस्तक हर पहलू से उपादेय और सप्रमाण है। हाँ एक शंका हमारे मनमें अवश्य उठती है कि जब गोयलीयजी ने मौर्यों का प्रारम्भ से ही जैनमतानुयाई होना और चाणक्य का चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार के समय भी प्रधान मन्त्री रहना सिद्ध किया है तब उस समय के वातावरण में

चाणक्य जैसे कट्टर और असहिष्णु ब्राह्मण ने ब्राह्मणेतर धर्म के अनुयाई चन्द्रगुप्त को सहायता देना और इसके बाद अपने ही बनाए राज्य में ब्राह्मण-विरोधी धर्म को फलने फूलने देना कैसे स्वीकार किया होगा ?

पुस्तक के आदि का 'लेखक का वक्तव्य' भी विचारपूर्ण है। परन्तु उसमें गोयलीयजी जैसे उत्साही, उद्योगी और विचार-शील लेखक की परिस्थिति का हाल पढ़कर बड़ा खेद होता है। न मालूम हमारे भारत के श्रीमान् छाया के पीछे दौड़ना छोड़ भारत के गौरव को बढ़ाने वाले वास्तविक कार्यों की तरफ ध्यान देना कबतक सीखेंगे।

जोधपुर
ता० ३०-११-३२

विश्वेश्वरनाथ रेउ,

प्रस्तावना

मुझे प्रसन्नता है भाई अयोध्याप्रसादजी की पुस्तक के लिये अपने शब्द लिखने का मुझे अवसर दिया जा रहा है।

समाज में साहित्य क्षीण है। ओज जगाये, ऐसा साहित्य और भी नहीं है। यह नहीं कि अपने यहाँ पुस्तकें कुछ कम निकलती हैं। पर, अधिकांश उनमें हैं, जो न हों, तो भला। उनमें अभिवृद्धि की आशा नहीं, अलाभ की ही आशंका है। तू-मैं, हरी-चौदस, बाबू--पंडित इस प्रकार की रागात्मक और शब्दात्मक चर्चाओं का जो पुस्तकें सामान प्रस्तुत करती हैं, वे बन्धन कारक हैं। उनसे आत्म-धर्म की स्फूर्ति नहीं प्राप्त होती, बन्धन का भाव बढ़ता है। और जैन-धर्म सिद्धान्ततः मोक्ष का धर्म है। आवश्यकता जैन-धर्म के अनुयायी कहलाये जानेवालों के लिये उस चीज की है, जो उन्हें राग-द्वेष की चर्चाओं से हटाये। रूखी तत्व-चर्चा से भी हटाये और उनमें प्राणों की प्रतिष्ठा करे। जीवन-नीति से जिनका सम्बन्ध नहीं, आत्म-धर्म से जो दूर हैं, भले ही उनमें पाण्डित्य का प्रदर्शन दीख पड़े और तत्व-चर्चा का आभास प्रतीत हो, वे रचनाएँ उपयोगी नहीं।

समाज में अध्यात्मवाद का दम्भ बहुत दीखने लगा है। तत्व-चर्चा के नाम पर घण्टों के घण्टे शुष्क तर्क में हम बिता दे सकते हैं। धर्म की आवाज भी उतने ही अंश में अधिक गूंजती दीख पड़ती है। पर जो धर्म पाता है, चिल्लाता नहीं, वह मौन हो पड़ता है। तर्क में से अध्यात्म की प्राप्ति नहीं है। वह साधना में से प्राप्त होता है। और जो धर्म में, अध्यात्म में, आरूढ़ हो जाता है, वह प्रगट में धर्म और आत्म-तत्व की बातें कम करता है,—बस आचरण में कर्मण्य हो रहता है।

समाज के पास अत्यन्त गम्भीर आध्यात्मिक-निदान-ग्रन्थ हैं। मूल्यवान पुराण-ग्रन्थ भी कम नहीं है और जैनियों के अतीत इतिहास में प्राणवान् और आचारवान् जीवन का आदर्श प्रस्तुत कर सकने वाले नर-पुङ्गवों की जीवन-सामग्री भी कम नहीं है। किन्तु इन सबका उपयोग करना हम भूल बैठे हैं। अध्यात्म के नाम पर केवल शास्त्र-वाद का निर्जीव पिंजर हमारे हाथ में रह जाता है। उसके वास्तव रस पर हम नहीं पहुँचते। पुराणों से कथा-कहानियाँ ही हमारे हाथ लगतीं हैं, तत्व कुछ विशेष हमारे समझ नहीं आता। हमारे पण्डित लोग भी उसके शरीर को ही टीकाओं में, टिप्पणियों में, और विवेचनाओं में रखते हैं; आधुनिकता के उपयोग में आ सकें, इस रूप में नहीं रखते। उसके बाद अपना इतिहास तो ग्रन्थों में खोया ही हुआ है,—उसको

खोज निकाल कर जैनियों के सामाजिक जीवन को नवादर्श अनुप्राणित करने की चेष्टा किसीने नहीं की है।

भाई गोयलीय ने इस ओर अपना प्रयास प्रस्तुत करके अभिनन्दनीय कार्य किया है। गोयलीयजी ने जो किया है, समझिये, भाग्य से लड़कर ही किया है। नहीं तो, समाज का उस सम्बन्ध में कुछ भी श्रेय नहीं। समाज में जिस भाँति जड़ता व्याप्त है, उसके अनुरूप ही, ऐसे सद्-प्रयत्नों की ओर वह उपेक्षा भाव से ही बन्धी रही है। ऐसी उपेक्षा भरी और सहानुभूति-हीन परिस्थितियों में गोयलीय जी ने जो किया है, वह ख़ूब किया है। उनका अध्यवसाय जैसी परिस्थितियों में अटूट बना रहा, वह किसी दूसरे को अवश्य विचलित कर देती।

लेखक का श्रम और लगन इसी से सराहनीय नहीं है कि प्रतिकूल परिस्थितियों के विरोध में टिकी रही, परन्तु इसलिये भी अभिवादनीय है कि उसने सुन्दर फल प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक जैनियों में गौरव का भाव तो भरेगी ही, किन्तु जैनेतरों के निकट भी सर्वथा मूल्यहीन यह न होगी। मौर्य चन्द्रगुप्त का जैनधर्म से सम्बन्ध रखने वाला ही रूप पेश नहीं किया है, उसका और तत्कालीन शासन-व्यवस्था और परिस्थिति का सर्वाङ्गिका रूप सामने लाया गया है। सम्पूर्ण पुस्तक की ध्वनि साम्प्रदायिकता से कुछ ऊपर रही है। जहाँ चन्द्रगुप्त के जैन होने का प्रतिपादन

है, वहाँ लेखक का यह मोह नहीं दीख पड़ता कि चन्द्रगुप्त को जैन सिद्ध कर छोड़ें। प्रत्युत एक ऐतिहासिक तथ्य को निरपक्ष सत्य शोधी की भांति निर्धारित करने की चेष्टा की है। पुस्तक का यह अंश बड़ी क़ीमती खोज, मनन और आत्म-शुद्धि के साथ लिखा गया है।

ऐतिहासिक-सत्य के निर्णय की वृत्ति जब उसमें है, तब केवल इतिहासज्ञों की दिलचस्पी का ही विषय बन सके, सो नहीं; वरन्, यह पुस्तक सर्व-साधारण के भी काम की और दिलचस्पी की चीज़ हो सकती है।

ऐतिहासिकों की मत—विभिन्नता के सम्बन्ध में कुछ निर्णय दे सकने का अधिकार मेरे पास नहीं है। उतनी जानकारी मेरी नहीं है। उस सम्बन्ध की मैं विशेष चिन्ता भी अपने पास नहीं रखता हूँ। मुझे तो इससे पूर्ण सन्तोष है कि व्यक्ति सच्चा होकर वस्तु की जिज्ञासा करता है, और सच्चा रहकर उसके खोज के सम्बन्ध में अपना परिणाम उपस्थित करता है। मौर्य चन्द्रगुप्त के जैन होने से जैनेतरों का कुछ लाभ नहीं है। और जैन न होने से, जैनों के निकट क्या, औरों के निकट क्या, चन्द्रगुप्त की महत्ता कम नहीं हो जाती। अयोध्याप्रसादजी निरपेक्ष और निरपक्ष होकर अपनी छानबीन का फल रखकर रह गये हैं, फिर उसमें उन्होंने अपना मोह नहीं दर्शाया है। मेरे लिये यह पूरे सन्तोष की बात है

भाई गोयलीय की परिस्थिती से मैं अवगत रहा हूँ। दिन थे वह, ऐसे सद्उद्योग में तनिक सी सहानुभूति के लिये भूखे रक्खे गये। सहयोग दूर, सराहना और सत् कामना भी उन्हें मँहगी होगई। जो जैन इस पुस्तक से अपरमित लाभ उठा सकेंगे, वे ही जैन, काम के वक्त पर, उनके सम्बन्ध में गूंगे हो गये। ऐसे दिन अब भी उनके ऊपर से बीते नहीं हैं; और जैनियों की नींद भी अभी टूटी नहीं है। पर वह जानते हैं, और मैं अपनी ओर से कुछ उन्हें अधिक नहीं बतला सकता, कि यह होने का पहला मौका नहीं है—ऐसा होता ही आया है।

ऐसी परिस्थितियों में श्री० रेउजी ने भूमिका में अपने क़ीमती शब्द देकर उनको अपनाया है, बहुत सुन्दर किया है। मैं उनकी सहृदयता का आभारी हो सकता हूँ।

विश्वास है जैन, और जैनेतर इसे अपनायेंगे और हमारा आदर करेंगे।

पहाड़ी-धीरज,
३० नवम्बर ३२

—जैनेन्द्रकुमार।

धन्यवाद

इस ट्रेक्ट के प्रकाशन में निम्न सज्जनों से द्रव्य की सहायता प्राप्त हुई है, अतएव उनकी इस कृपा और दान शीलता के लिये कोटिशः धन्यवाद।

२०) श्रीमान् चौधरी बलदेवसिंहजी सर्राफ, देहली।

१५) „ लाला जुगलकिशोरजी काग़ज़ी, देहली।

१५) „ श्री शीतलनाथ जैनलायब्रेरी फर्रुखनगर।

१०) „ बा०सीतारामजी चीफ़ बुक्किग क्लर्क, चाँदनी चौक देहली।

१०) „ बा० महावीरप्रसादजी सबहेडक्लर्क, N.W.R. देहली।

१०) „ महावीरप्रसादजी सबहेडक्लर्क, डी० एस० देहली।

१०) „ लाला तिलोकचन्दजी रईस, दरियागंज देहली।

५) „ ला०रघुवीरसिंहजी टोपीवाले, कोषाध्यक्ष जैन-मित्र मण्डल

३) „ बा० विशनचन्दजी ड्राफ्टमैन, मन्त्री, जैन-मित्र मण्डल

३) „ ला० दलीपसिंहजी काग़ज़ी, चावड़ीबाज़ार, देहली।

भवदीय—

मन्त्री—जैनमित्र-मंडल धरमपुरा, देहली।

लोकमत

श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय कृत "जैनवीरों का इतिहास और हमारा पतन" मण्डल ने जनवरी सन् ३० में प्रकाशित किया था। उस पर अनेक विद्वान् और पत्रों ने समालोचनाएँ की थीं जिनमें से यहाँ कुछ पाठकों के अवलोकनार्थ दी जा रही हैं। जिनसे मालूम होगा कि समाज को ऐसी रचनाओं की कितनी अधिक आवश्यकता है। इसकी दो हज़ार प्रतियाँ शेष हो चुकी हैं। लेखक इसे अब अधिक विस्तार रूप में लिखने का विचार रखते हैं। जिसका एक खण्ड पाठकों के कर कमलों में प्रस्तुत है।

—प्रकाशक

१—राजपूताने के प्रसिद्ध पुरतत्ववेत्ता साहित्याचार्य्य प्रो० विश्वेश्वरनाथजी रेऊ, जोधपुरः—

"पुस्तक समयोपयोगी और उच्च विचारों से भूषित है। हम गोयलीयजी के विचारों का हृदय से समर्थन करते हैं। उद्धृत ऐतिहासिक घटनाओं में कहीं-कहीं मत-भेद रखने पर भी हम दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि इस पुस्तक में पाठकों को बहुत सी ऐतिहासिक सामाग्री एक स्थान पर इकट्ठी ही मिल सकेगी। आशा है कि गोयलीयजी और देहली का जैनमित्र-मण्डल दोनों ऐसे ही उपयोगी ग्रन्थ-रत्नों को प्रकाशित कर मातृ-भाषा और मातृभूमि की सेवा करते रहेंगे।"

२—अनेक ग्रन्थ-रत्नों के लेखक प्रो० बेनीप्रसादजी, अलाहाबादः—

"श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय कृत "जैनवीरों का इतिहास और हमारा पतन" शीर्षक पुस्तक देखकर प्रसन्नता हुई। लेखक ने थोड़े से पृष्ठों में ही सुधार का बड़ा अच्छा आयोजन किया है और उसके बाद जैनवीरों की कीर्तियों का आकर्षक चित्र खींचा है। पुस्तक उपयोगी होगी।"

३—प्रो० हीरालालजी एम० ए० एल० एल० बी०, अमरावतीः—

"आपका "जैनवीरों का इतिहास और हमारा पतन" मैंने देखा है और पसन्द किया है।"

४—श्रीकृष्णलालजी वर्मा, (भू० पू० सम्पादक 'जैनसंसार' और मुनि) बम्बई:—

"......मैं बरसों से जिस तरह का साहित्य प्रकाशित कराने की कल्पना कर रहा हूँ उस तरह का साहित्य आपने प्रकाशित कराकर जैन-समाज के ऊपर बड़ा भारी उपकार किया है। जीवन में स्फूर्ति उत्पन्न करनेवाला इतिहास है, मर्यादा के लिये गर्जा देनेवाला इतिहास है, और शरीर के तुच्छ मोह को छुड़ाकर देश-धर्म पर क़ुर्बान हो जाने की शिक्षा देनेवाला इतिहास है। जैन-समाज में इतिहास की—ख़ास तरह से क़ुर्बानियों के इतिहास की बहुत ही कमी है। श्रीयुत अयोध्याप्रसादजी गोयलीय 'दास' ने उस कमी को पूरा करने का कई अंशों में सफल प्रयत्न किया है उसके लिये मैं उन्हें बधाई देता हूँ। और भविष्य में उनसे ऐसे प्रयत्न की आशा करता हूँ।"

५—श्री० ए० शान्तिराजजी शास्त्री सम्पादक विश्वबन्धु, कनाड़ी मैसूर:—

"यह पुस्तक नवीन ढंग की और अत्यन्त उपयोगी है। पुस्तक की समालोचना विश्वबन्धु में करेंगे।"

६—पं० शोभाचन्द्रजी न्यायतीर्थ, भारिल्ल, बीकानेर:—

"पुस्तक यथासमय मिलगई थी। अनेकानेक धन्यवाद। पढ़कर चित्त आनन्दित हुआ पुस्तक समयानुकूल और

अत्यन्त उपयोगी है। आशा है इस पुस्तक से जैन-समाज और जैन-सिद्धान्त पर किये जाने वाले निर्मूल आक्षेपों का बहुत कुछ खण्डन होगा। मैं अपने प्रिय मित्र गोयलीय जी को उनके सार्थकश्रम के लिये बधाई देता हूँ और मित्र-मण्डल की भी सराहना करता हूँ कि उसने इस पुस्तक को प्रकाशित करके समाज का बहुत कुछ कल्याण साधन किया है।"

७—वाणीभूषण पं० तुलसीरामजी काव्यतीर्थ, बड़ौत:—

"पुस्तक उपादेय ही नहीं किन्तु अपने विषय की बिल्कुल नई चीज है। मैंने यत्र-तत्र इसका अवलोकन किया भाषा प्रौढ़ एवं भाव उत्तेजक हैं। लेखक और प्रकाशक दोनों धन्यवादार्ह हैं। मैं इसके लिये आपका आभारी हूँ।"

८—विद्यावारिधि जैनदर्शनदिवाकर पं० चम्पतरायजी बैरिष्टर, लण्डन:—

"मित्र अयोध्याप्रसादजी की किताब बड़ी बढ़िया है।"

९—जैनइतिहासज्ञविद्वान् श्री० बाबू उमरावसिंह जी टाँक, बी० ए० एल० एल० बी० प्लीडर, देहली:—

"श्रीयुत गोयलीय कृत "जैनवीरों का इतिहास और हमारा पतन" नामक ऐतिहासिक पुस्तक मेरे दृष्टि-गोचर हुई। वास्तव में पुस्तक लिखने में रचियता अपने अत्यन्त परिश्रम और अध्यवसाय के कारण सफलीभूत हुये हैं।

जैनइतिहास अभी पूरे तौर पर प्रकाश में नहीं आया है, इसकी बहुत खोज और तलाश की आवश्यकता है। इतिहास निर्माण के लिये साधनों का अत्यन्त अभाव है, ये प्रायः दुष्प्राप्य और अलभ्य हैं। जो थोड़े बहुत प्रकाश में भी आये हैं, उन सबका मिलना कठिन है, न इसके लिये जैन-समाज की ओर से कोई पुस्तकालय है और न अभी तक इस क़िस्म की कोई सूची ही प्रकाशित हुई है। जो महानुभाव जैन-इतिहास की खोज में संलग्न हैं, वे इन कठिनाइयों से परिचित हैं। इन्हीं बातों को दृष्टिगोचर रखते हुये मैं यह कहने को बाध्य हूँ कि लेखक का यह प्रथम प्रयास प्रशंसनीय एवं अभिनन्दनीय है। हिन्दी-साहित्य में यह अपने ढङ्ग की पहली ही पुस्तक है आशा है भविष्य में प्रिय गोयलीय इसी प्रकार की कीर्तियों से हिन्दी-मन्दिर को सुशोभित करेंगे।"

१०—श्री० ए० एन० उपाध्याय बी० ए० पूना:—

"अपने वचनानुसार आपकी पुस्तक मैंने रेल में पढ़ली। दिलचस्प है। अपनी सम्मति देने के सम्बन्धमें आपके अनुरोध पर मैं 'नहीं' नहीं कह सकता। "जैनवीरों का इतिहास और हमारा पतन" पुस्तक है जो सर्व-प्रिय होने योग्य है। आपकी क़लम में एक आग है—और इस पुस्तक के पहले भाग में वह खूब व्यक्त है। समाज के कई दूषित अंगों को उसके सामने पुस्तक के पहले भाग में ठीक रंग में और ज़ोरदार ढंग में पेश किया गया है। समाज को आभारी होना

चाहिये कि आपकी जोरदार क़लम से निकली ऐसी उपयुक्त और खुली आलोचना उसे प्राप्त हुई। भारत के पतन के कारण आपने अच्छी भांति दर्शाए हैं। निस्संदेह, भारत का पतन किसी भी भाँति अहिंसा के सिद्धान्त से सम्बन्ध नहीं रख सकता। मेरी इच्छा है कि दूसरा भाग तनिक और आलोचनात्मक होता। तो भी साधारण जनसमाज के लिये उसमें पर्याप्त पाठ्य—सामग्री है। पृष्ठ ११० पर एक वाक्य है कि "अन्तमें सांसारिक......"मेरी समझ में इस वाक्य का अभिधेय नहीं आसका। मुझे भय है, यहाँ कुछ भूल की है। आपका मतलब क्या गोमटेश्वरकी मूर्ति से है? पुस्तक की भाषा के बारे में मैं उपयुक्त निर्णायक नहीं हूँ। तो भी मैं कहूँगा कि हमारे उत्तरी-भारत के भाई उर्दू शब्दों को जहाँ तक बचा सकें अच्छा हो, आपने कई उर्दू के शब्द व्यवहार किये हैं जो इस ओर प्रचलित नहीं। दक्षिण भारत में जैन अच्छी संख्या में हैं, और मुझे आशा है हिन्दी ग्रन्थकारों का उनपर अनुग्रह होगा। यदि वे उर्दू शब्दों के प्रयोग से बचें। मुझे प्रसन्नता है कि आपने ऐतहासिक जानकारी और सूचनायें प्राप्त करने के लिये पर्याप्तश्रम उठाया है।"

११—हिन्दी के यशस्वी, उदीयमान लेखक श्री जैनेन्द्रकुमारजी ने "अनेकान्त" में समालोचना करते हुए लिखा है:—

"यह पुस्तक मैंने देखी। इस पर लेखक और प्रकाशक दोनों ही को मैं धन्यवाद दे सकता हूँ। लेखक भाई अयोध्या प्रसाद जी गोयलीय का श्रम सराहनीय है। जैन-वीरों की गुणावली तो क्या नामावली ही इकट्ठी करना कष्टसाध्य है। जैनियों की ओर से इस सम्बन्ध में तैयार किया हुआ कोई साहित्य है ही नहीं, जैनेतर ग्रन्थकारों ने उन वीरों के जैन होने के बारे में काफ़ी उपेक्षा दिखलाई है। वे जैन थे, कहीं कहीं तो इसका उल्लेख करना भी आवश्यक नहीं समझा गया है। ऐसी अवस्था में प्रस्तुत पुस्तक के लेखक का कार्य अवश्य ही कष्टसाध्य और श्रमापेक्षी रहा होगा। फिर उनके पास साधनों की भी प्रचुरता नहीं है। फिर भी इतने जैन-वीरों की जीवनी वे नये रूप में पेश कर सके यह उनके अध्यवसाय और ध्यान का परिचायक है। पुस्तक का जीवनी वाला अंश तो क़ीमती है ही आरम्भ के लेख भी कम क़ीमती नहीं है। एक ओर जैनधर्म की अमूल्यता, दूसरी ओर जैन समाज की हीनता ये दोनों बातें एक ही साथ एक ही समय क्यों और कैसे सम्भव हो सकी हैं, उन लेखों में इसका सभी दिग्दर्शन है। किस प्रकार साधारण अहिंसा पर लगाये जाने वाले आरोप मिथ्या हैं, और वास्तव में क्यों उन आरोपों का लक्षण अहिंसा नहीं, हिंसा होना चाहिये—वह सूक्ष्म हिंसा जो अपने को अहिंसा के बाने में छिपाकर जीवित रही—यह उन लेखों में दिखाया गया है। पुस्तक

इस प्रकार उपादेय है। लायब्रेरियों में रहनी चाहिये। जैन शालाओं में उसे बालकों के लिये पाठ्य-विषय के रूप में स्वीकृत किया जाना हर प्रकार उपयोगी और हितकर सिद्ध होगा।"

१२—जैनमित्र, सूरतः—

'...हरएक नर-नारी व विद्यार्थी को पढ़जाना चाहिये।'

१३—आदर्शजैन, आगराः—

"प्रस्तुत पुस्तक बहुत खोज और परिश्रम के साथ लिखी गई है। जैनियों को कायर और डरपोक बताने वाले अन्य धर्मियों के सामने जैनियों की वीरता का उज्ज्वल चित्र चित्रित किया है।"

१४—जैनजगत, अजमेरः—

"...इस पुस्तक के पढ़ने से गौरव का कुछ भान होने लगता है। पुस्तक पठनीय है।"

१५—श्वेताम्बरजैन, आगराः—

"...पुस्तक इतिहास-प्रेमियों के पढ़ने योग्य है। इस पुस्तक में श्वेताम्बरी और दिगम्बरी बहुत से वीरों की वीरता का वर्णन किया गया है। जैनियोंको कायर बताने वाले महानुभावों को चाहिये कि इस पुस्तकको एक बार अवश्यपढ़ें।"

१६—जैनप्रकाश, बम्बईः—

"...इस पुस्तक में हमारा पतन" शीर्षक भाग में छः लेख हैं, जिनमें भारत के पतन के कारणों पर अच्छा प्रकाश

डाला गया है और उन लोगों के भ्रम को दूर कर दिया गया है जो अहिंसा को भारत के पतन का कारण समझते हैं। इसके बाद अहिंसा के ऊपर एक अच्छा लेख है। इस के बाद १९ शीर्षकों में अनेक जैन-वीरों का इतिहास है। पुस्तक पठनीय है।"...

१७—जैनसंसार, (उर्दू) देहली:—

"...किताब का तर्जे तहरीर सुश्ता व पाकीज़ा है। तहरीर से जाबजा वीररस टपकता है। किताब हर जैन के लिये उमूमन नौजवानों के लिये ख़सूसन पढ़ने के योग्य है। जैनमित्र-मण्डल ने इस अहम किताब को शाया करके (जिसे क़लमबन्द करने के लिए हम श्रीयुत "दास" को मुबारिक बाद देते हैं) अहिंसा-धर्म की पताका बुलन्द करने का अहम काम किया है। बहतर होगा कोई दानी भाई इस किताब को मुख़्तलिफ़ ज़बानों में शाया कराने के लिये मण्डल की माली इम्दाद करें। ताकि मण्डल जैन व अजैन तबक़े में भारी तादाद में तक़सीम करके अहिंसा-धर्म की रोशनी तमाम ज़माने में फैला सके।"

लेखक का वक्तव्य

निकला हूँ साथ लेके शकिस्ता किताबेदिल ।
हर-हर वरक़ में शरहे तमन्ना लिये हुये ॥

—हकीम आशुफ़्ता

भारतवर्ष की इस समय क्या अवस्था है? वह इस समय किस अज्ञात पथ की ओर अग्रसर हो रहा है; उसके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है? संसार की गौर, पीत, कृष्ण और धूसर जातियाँ उन्नति-पथ में कितनी शीघ्रता से बढ़ी चली जा रही हैं—कैसे-कैसे राजनैतिक दाव-पेच खेले जा रहे हैं? शक्तिशाली राष्ट्र—बलवती जातियाँ—कैसे-कैसे कूट नीतियों के पासे फैंक कर, निर्बल राष्ट्रों—अल्प संख्यक

जातियों—को निगल जाने का प्रयत्न कर रहे हैं[1] ?

इस प्रलयकारी विक्षुब्ध संसार-सागर में जब कि बड़े-बड़े सत्ताधीश डावाँडोल हो रहे हैं, तब हमारी इस गलित जीर्ण-शीर्ण-झोजरी नौका की क्या स्थिति होगी ? हमारा भविष्य कितने निपट अन्धकार की ओर झुका हुआ है ? इसकी हमें तनिक भी चिन्ता नहीं है। हम इस तूफ़ानी-अवस्था में भी मल्हार गा रहे हैं। हमारी समाज वर्तमान में इन पेचीली और उलझी हुई समस्याओं को हल करने की आवश्यकता ही नहीं समझती। जब कि इस दुर्गन्धमय दूषित वातावरण में स्वतन्त्र और स्वछन्द स्वास लेना भी दूभर हो रहा है—कितने ही पेट की ज्वाला से तड़प-तड़प कर प्राण दे रहे हैं—आत्महत्यायें कर रहे हैं, अनेक दारुण वेदना से छटपटा रहे हैं, देवियों का जीवन संकटमय होगया है, हमारे धर्म, कर्म, व्यवहार पर आघात हो रहे हैं; हमारे बच्चे शिक्षा के साधन न मिलने से गलियों में जूते चटखाते फिर रहे हैं—तब भी हम अध्यात्म-वाद, अध्यात्म-वाद चिल्ला रहे हैं। केवल अध्यात्म-वाद—अध्यात्म-वाद ही चिल्लाया जाता, तब भी कोई विशेष हानि नहीं थी, परन्तु यहाँ तो अध्यात्म-वाद के वेष में एकान्त-वाद, भाव-वाद, भेष-वाद,

---

१—आँख जो कुछ देखती है लब पै आसकता नहीं।
महवे हैरत हूँ यह दुनियाँ क्या से क्या हो जायगी॥
—"इक़बाल"

बहुमत-वाद, गुरुडम-वादकी पूजा की जा रही है। दिगम्बरत्व, श्वेताम्बरत्व ईश्वरसृष्टिकर्तृत्व, संसार-प्राचीनत्व आदि के सिद्ध करने में समस्त शक्ति नष्ट की जा रही है। हमारे बच्चे शिक्षाके उचित साधन न मिलने से दूसरोंकी ओर मुँह बाये देख रहे हैं, तो भी हमारी समाज करोड़ों रुपया प्रति-वर्ष रथयात्रा, मेले-प्रतिष्ठाओं और दीक्षा महोत्सवों में स्वाहा कर रही है। हमारे धार्मिक ग्रन्थ दीमकों और चूहों की भेंट हो रहे हैं, यह सब हम कलेजे पर पत्थर रख कर देख रहे हैं, फिर भी हम वीतराग भगवान् के मन्दिर की दीवार सोने से लिपवा रहे हैं, उन्हें हीरे जवाहरात के छत्र-चँवर से सजा रहे हैं। हमारा कोई इतिहास न होने से लोग हमारी हँसी उड़ाते हैं; फिर भी हम इसकी परवाह न करके लाखों-करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष धार्मिक मुक़द्दमेबाजी में व्यय किये चले जा रहे हैं!

आज हम संसार की दृष्टि में भीरु, कायर, अकर्मण्य समझे जाते हैं और आश्चर्य तो यह है कि हम स्वयं भी अपने को ऐसा ही समझने लगे हैं? क्या वास्तव में हम सदा से ही शक्ति-हीन रहे हैं? क्या हम में कभी पौरुष था ही नहीं? क्या हमारे पूर्वज भी हमारी तरह निकम्मे थे? क्या वह भी चुपचाप भेड़ों की तरह शत्रु को आत्म-समर्पण कर सकते थे?

इन प्रश्नों का हमारे पास कोई प्रामाणिक उत्तर है ही

नहीं; न इस ढङ्ग का अभीतक कोई इतिहास ही प्रकाशित हुआ है। जो कुछ हमें विधर्मी और विदेशीय लेखकों द्वारा लिखा मिलता है, वही हमारे लिये सब कुछ है।

कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथजी के शब्दों में:—"हम लोग लड़कपन से ही भारतवर्ष को छोटा समझते हैं और आप भी छोटे बनते हैं। अँग्रेज़ का बच्चा जानता है कि उसके बाप दादाओं ने अनेक युद्धों में जयलक्ष्मी प्राप्त की है। अनेक देशों पर क़ब्ज़ा करके वहाँ अपने देश का वणिज-व्यापार फैलाया है। इसी से वह अपने को रण-गौरव, धन-गौरव, राज्य-गौरव के योग्य बनाना चाहता है। और हम क्या जानते हैं? हम जानते हैं कि, हमारे बाप-दादा बिल्कुल असभ्य, कायर और मूर्ख थे। उन्होंने न कभी किसी युद्ध में विजय-वैजियन्ती उड़ाई, न किसी देश पर अधिकार जमाया और न कभी अपने देश की उन्नति ही की। हमको यही जताने के लिये शायद यह भारत का इतिहास है। हमारे बाप-दादों ने क्या किया? सो तो हम कुछ नहीं जानते[१]।"

आज किसी विद्यार्थी से पूछा जाय कि "बताओ हरभरा जङ्गल और रेतीला इलाक़ा कौनसा है?" तो वह झट अफ्रीका के जङ्गल में कूद जाँयगे और अरब की ख़ाक फाँकने लगेंगे। किन्तु उन्हें यह नहीं मालूम कि यहाँ भी राजपूताना

१—स्वदेश, पृ० ३४।

जैसा सुहावना जङ्गल और रेतीला प्रदेश है जहाँ पर असंख्यात वीर, भारतीय आन पर मर मिटे हैं[1] और इसी प्रदेश में भामाशाह, आशाशाह, जैनरत्न इन्द्रराज जैसे नररत्न हुये हैं। वीरों का जिक्र छिड़ते ही हमारे विद्यार्थियों की नैपोलियन आदि की प्रसंशा करते हुये छाती फूल उठती है; किन्तु उन्हें यह नहीं मालूम कि इसी वीर-प्रसवा भारत-माँ की कोख से भी सम्राट् चन्द्रगुप्त, महामेघवाहन राजा खारवेल, राजर्षि कुमारपाल, वीरनारायण अमोघवर्ष, समर-केसरी चामुण्डराय, राजनीति-निपुण वस्तुपाल, तेजपाल जैसे अनेक बलवान, न्यायवान, वीर-चूड़ामणि उत्पन्न हुये हैं। जिन्होंने आतताईयों का अनेक बार गर्व खर्व कर दिया था।

उक्त महापुरुषों के जीवनचरित्र तो क्या, हमारे विद्यालयों, आश्रमों, गुरुकुलों और स्कूलों आदि से निकलने वाले उपाधिधारी विद्वान इनके नाम से भी परिचित नहीं होते। हमारी इसी अज्ञानता के कारण उनकी कीर्ति प्रायः लुप्त हो चुकी है। किसी देश व जाति का इतिहास उठाकर देख लीजिये; स्वयं अपनी जाति का बखान उसी जाति के विद्वानों ने किया है। अपने देश-जाति के गुणों को अगर आप

१—इन्हीं वीरों के सम्बन्ध में किसी कवि ने कहा है:—

आके देखो दोस्तो! इस राजपूती शान को।
मिटते-मिटते मिट गये, लेकिन न छोड़ा आन को

ही न गावें तो कौन गाने आवेगा ? हम अपने पूर्वजों के किये हुये सुकृत्यों का स्मरण न करें तब अन्य उन्हें क्यों याद करेंगे ? जब माँ स्वयं अपने पुत्र के लिये वधावा नहीं गायगी तब पड़ोसनों को उसके बच्चे के लिये मङ्गल-गीत गाने की आवश्यकता ही क्यों प्रतीत होने लगी ? जो स्वयं अपने पाँवों पर खड़ा नहीं होता, उसे सहारा देने कोई भी नहीं आता। संसार का कुछ नियम ही ऐसा है[1]। स्वर्गीय वंकिमवावू ने क्या खूब लिखा है—"जो कोई अपने को महापुरुष कह कर परिचय नहीं देता, उसे कोई आदमियों में ही नहीं गिनता। कब किस जाति ने दूसरों के गुणगान गाये हैं ? रोमन लोगों के युद्ध-पाण्डित्य का प्रमाण रोमनों का लिखा हुआ इतिहास है। ग्रीक लोगों के वीर होने का परिचय भी ग्रीक लोगों के लिखे हुये इतिहास से मिलता है। मुसलमानों के बहादुर होने की बात भी हमें मुसलमानों के लेखों से ही जान पड़ती है। यूरोप की वीरता-धीरता का परिचय भी यूरोपियन लेखकों ने ही हम तक पहुँचाया है। हमने अपनी वीरता-धीरता-सभ्यता, शिल्पकला, संस्कृति आदि का कोई साहित्य

१—एक बार नैपोलियन ने अपने सैनिकों को सम्बोधन करके कहा था—"अपना कोई भी कार्य दूसरे के भरोसे पर मत छोड़ो; यदि तुम्हारी बारूद गीली है तो उसे सुखाने ईश्वर नहीं आयगा, वह तुम्हें ही सुखानी होगी।"

निर्माण ही नहीं किया, इसीलिये हमारे पराक्रमी पूर्वजों की धवल-कीर्ति को अथवा हमारे गौरव को कोई नहीं मानता, क्योंकि हमारी इस बात का कोई गवाह ही नहीं है[१]"। हमने अपने पूर्वजों की उज्वलकीर्ति को अँधेरे में डाले रखने का जो अधम प्रयत्न किया है, संसार में उसका प्रायश्चित नहीं। इस कृतघ्नता का फल चखने के लिये हमें तैयार रहना चाहिये[२]।

हमारे पूर्वजों ने भी इतिहास-निर्माण किया था या नहीं, यहाँ इस झंझट में पड़ने की आवश्यकता नहीं। काका कालेलकरजी के सुयोग्य शब्दों में—"इतिहास लिखने की अपेक्षा इतिहास को जीवित रखना अर्थात् जीवन में उसे चरितार्थ कर दिखाना, हमारे समाज की खूबी थी। चीथड़ों के बने कागजों पर इतिहास लिखना अच्छा या जीवन ही में इतिहास का संग्रह करना अच्छा ? इन दोनों में कौनसा रास्ता अधिक सुधरा हुआ है—यह कहना क्या कठिन है ? जब तक हमारी परम्परा टूटी नहीं थी, तब तक हमारा इतिहास हमारे जीवन में जीवित था[३]।" पर जब से हमने अपने

१—बंकिमनिबन्धावलि।

२—किसी ऐतिहासिक का कथन बहुत ठीक है कि "यदि किसी राष्ट्र को सदैव अधः पतित एवं पराधीन बनाये रखना हो तो, सबसे अच्छा उपाय यह है कि उसका इतिहास नष्ट कर दिया जाय।

३—श्रीनिवासाचार्य्य द्वारा अनुदित "जीवन-साहित्य" पहला भाग पृ० ५

बुजुर्गों के चलने छोड़ हैं और केवल रूढ़ि को चिमटा कर बैठे हैं, तभी से हमें इतिहास की आवश्यकता भी प्रतीत होने लगी है। हम से हमारी सन्तान कोई सदाचार का पाठ नहीं पढ़ सकती, हमारा बहुत गहरा पतन हुआ है[1]। इतना गहरा कि कुत्ते हमारा हालत पर रो सकते हैं, गधे हँस सकते हैं—शूकर मुँह चिड़ा सकते हैं। हम बिगड़े सो तो बिगड़े ही किन्तु भविष्य का सुधार करने के लिये हमें अपने पूर्वजों की वीरता-धीरता का आदर्श—प्रतिबिम्ब रखना ही होगा—जिसे देख-सुनकर भावी सन्तान सुधर सके। सिंहों को अपने पूर्वजों की वीरता के गुण-गान की आवश्यका नहीं—वह स्वयं उनके अनुरूप होते हैं—किन्तु एक सिंह का बालक जो अभाग्यवश भेड़ों में मिल गया है, उसे उसके स्वरूप का बोध कराने के लिये सिंहों का प्रतिबिम्ब दिखाना ही होगा। उसके कानों में केसरी-गर्जना पहुँचानी ही होगी तभी वह अपना वास्तविक रूप समझ सकेगा। वीर के उपासक जो आज भ्रम-वश कायरता का जामा पहने हुये हैं, उनसे वह अनर्थकारी जामा बलात् छीनना होगा। और इसका केवल एक

1—हमारा पतन क्यों हुआ ? यह रोमांचकारी वर्णन लेखक की "जैनकालीन और वर्तमान भारत अथवा हमारा उत्थान और पतन" नामक पुस्तक में विस्तार से मिलेगा—जो अभी अप्रकाशित है। संक्षेप में "जैन-वीरों का इतिहास और हमारा पतन" नामक पुस्तक में भी है जो मण्डल की ओर से प्रकाशित हुआ है।

ही उपाय है, और वह यह कि उन्हें उनके पूर्वजों के आन-मान पर मर मिटने वाले, वीर-रस-पूर्ण कारनामें सुनाये जाँय, जिन्हें सुनकर वे उन्मत्त होकर नाच उठें और गर्ज कर बोल उठें—

हम जाग उठे, सब समझ गये, अब करके कुछ दिखला देंगे।
हाँ विश्व-गगन में अपने को फिर एक बार चमका देंगे॥

—अज्ञात

जिस जाति का अपना इतिहास है, वह जाति अपने राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक अधिकारों से कभी वंचित नहीं रखी जा सकती। उसकी सभ्यता-संस्कृति, भाषा सदैव सुरक्षित रहती है। इतिहास साहस को बढ़ाने वाला, स्फूर्ति देने वाला, कर्तव्य बताने वाला, दुराचार एवं कुमार्ग से बचाने वाला और आपत्ति में धैर्य बँधाने वाला सच्चा सखा है। वह मनुष्य जो अपने पूर्वजों के सुकृत्यों से परिचित नहीं, अवसर पड़ने पर दुराचार के अँधेरे कूप में गिर सकता है, विश्वासघात और देश-द्रोह कर सकता है; किन्तु जो मनुष्य यह जानता है—कि मेरे पूर्वजों ने असंख्य-द्रव्य का लोभ त्याग कर देश-द्रोह अथवा विश्वासघात नहीं किया, शरीर का तुच्छ मोह त्याग कर अपनी आन पर मर मिटे, अनेक प्रलोभनों अथवा दारुण-वेदनाओं के देने पर भी कुल में कलंक नहीं लगने दिया—वह कुमार्ग में प्रवेश करते हुये भी रुक जायगा। उसके बापदादों के उज्वल चरित्र उसके नेत्रों के सामने नाचने लगेंगे। इतिहास ही संसार में

एक ऐसी वस्तु है, जो पतितों को उठाकर उन्नति-शिखर पर बैठा देता है, निर्बलों को बलवान, निर्धनों को धनवान, निर्गुणों को गुणवान बना देता है, 'कमहिम्मतों को साहसी, कायरों को धीर-वीर, कुमार्गरतों को सदाचारी बनाने वाला और सोती हुई क़ौमों को जागृत कर देने वाला इतिहास ही है[1]। इसी बात को लक्ष करके कितनी ही नवीन जातियों ने अपने कपोल्कल्पित इतिहास तैयार किये हैं क्योंकि "जिस जाति का अपना कोई इतिहास नहीं होता वह बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकती।" एक वह जातियाँ हैं जो कुछ न होने पर भी इतिहास का निर्माण कर रही हैं और एक हम हैं जो सब कुछ होते हुये भी उस ओर से उदासीन हैं[2]।

एक विद्वान का कथन है कि—"जैनधर्म के ग्रन्थों में, शिलालेखों में, स्थविरावलियाँ में और पट्टावलियों में भारतवर्ष के इतिहास की बहुमूल्य सामग्री छिपी हुई है।......जैन-साहित्य की सहायता के बिना समग्र भारतवर्ष का इतिहास

१—क़िस्सये अज़मतेमाज़ीको न मुहमिल समझो।
क़ौमें जाग उठती हैं अक्सर इन अफ़सानोंसे ॥-'रवाँ'

२—इक वह हैं जो कि वाक़िफ़े रंजोअलम नहीं।
इक हम हैं जिनके हिस्से में लुत्फ़ोकरम नहीं ॥
—"नाज़" जैन

सम्पूर्ण नहीं हो सकता[१]।" क्योंकि "जैन-विद्वानों का इतिहास की ओर सदा से ही अधिक ध्यान रहा है। प्रत्येक प्राचीन जैन-लेखक ने अपनी रचना के अन्त में अपने समय के राजाओं का तथा गुरु-परम्परा का कुछ न कुछ उल्लेख अवश्य किया है। यहाँ तक कि जिन लोगों ने ग्रन्थों की नकलें कराईं और दान किया है, उनका भी कुछ-न-कुछ इतिहास उन ग्रन्थों में लिखा मिलता है, जैन-लेखकों में विशेष कर के श्वेताम्बरों में, पौराणिक चरित्रों के सिवाय ऐतिहासिक पुरुषों के चरित्र लिखने की पद्धति भी रही है। खोज करने से भोजप्रबन्ध, कुमारपाल-चरित्र आदि के समान और भी अनेक ग्रन्थों के मिलने की सम्भावना है। 'मूतानेणसी की ख्याति' जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थ भी जैनों के द्वारा लिखे गये हैं। जो बहुतसी बातों में अपना सानी नहीं रखते। श्वेताम्बर-यतियों के पुस्तकालयों में इतिहास की बहुत सामग्री है। कर्नल टाड् को अपना ग्रन्थ राजस्थान लिखने में जिनसे बड़ी भारी सहायता मिली थी, वे ज्ञानचन्द्रजी यति एक जैन साधु ही थे[२]? कविवर बनारसीदासजी

१—अनेकान्त पृ० ९७०-७४।

२—स्वयं टाड्साहब ने अपनी टीका में लिखा है कि मेरे शिक्षा-दाता यति ज्ञानचन्द जैन धर्मावलम्बी थे। और वह दस वर्ष तक मेरे साथ रहे। मैं उनके निकट विशेष ऋणी हूँ मेरे प्रत्येक

(शेष पृष्ठ ३७ पर)

का आत्मचरित् अपने समय की अनेक ऐतिहासिक वातों से भरा हुआ है। मुसलमानी राज्य की अँधाधुन्धी का उसमें जीता जागता चित्र है[१]।"

हर्ष है कि इस वर्तमान युग में भी इतिहास लिखने की पवित्र प्रथा हमारी समाज में प्रचलित होगई है। इसका श्रेय निम्नलिखित परलोकगत तथा वर्तमान गण्यमान विद्वानों को है जिन्होंने दिन-रात परिश्रम करके जैन-व भारतीय इतिहास पर प्रकाश डाला है और जो लाख विघ्न-बाधाओं के रहते हुये अब भी ऐतिहासिक अन्वेषण में लगे हुये हैं:—

१—परलोकगत राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द सी. आई. ई.— ले० इतिहासतिमर नाशक।

२— „ मुनिविजयधर्मसूरि—संस्थापक यशोविजय ग्रन्थमाला।

(पृष्ठ २६ के फुटनोट का शेष)

गवेषण: तत्वानुसन्धान कार्य में उन्होंने विशेष उत्साह के संग सहायता दी थी। (फुटनोट हिन्दी टाड्राजस्थान पहलाभाग द्वि०ख०अ०२६ पृ० ७१२) एक स्थल पर श्री० ओझाजी लिखते हैं—"इससे पाया जाता है कि उस समय भी ब्राह्मण-विद्वानों की अपेक्षा जैन विद्वानों को इतिहास का ज्ञान अधिक था।" (रा० पू० का इ० पृ० ४०७) "दास"

१—सप्तम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन जबलपुर लेखमाला पृ० ४५

३— „ बाबू बनारसीदास एम० ए०—ले० जैन इतिहास सीरीज़।

४— „ बाबू माणिकचन्द्र बी० ए० एल० एल० बी०—ले० लार्ड महावीर (इङ्गलिश)।

५— „ बा०प्रभूदयाल तहसीलदार—ले०जैन इतिहास(उर्दू)

६— „ बाबू देवकुमार रईस, आरा—संस्थापक जैन-सरस्वती-भवन और जैनसिद्धान्त-भास्कर।

७— „ कुमार देवेन्द्रप्रसाद—जैन-हितैषी में प्रकाशित कई ऐतिहासिक लेखों के लेखक, अनुवादक और प्रेममन्दिर आरा के प्रसिद्ध व्यवस्थापक।

८— „ मास्टर बिहारीलाल 'चैतन्य'—ले०बृहत शब्दार्णव तथा अग्रवाल-इतिहास।

९— „ पं० उदयलाल काशलीवाल—भद्रबाहु-चरित्र, ऐतिहासिक ग्रन्थ के अनुवादक।

१०— „ यति श्रीपालचन्द्र—ले०जैन-सम्प्रदाय-शिक्षा, (इस में ओसवालों के इतिहास का अच्छा संकलन है)

११— „ बा० दयाचन्द, गोयलीय बी० ए०—ले० भारतवर्ष का इतिहास।

१२—वर्तमान पं० नाथूराम प्रेमी—विद्वद् रत्नमाला, कर्नाटक-जैन-कवि, आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों के लेखक, जैन-हितैषी के भू० पू० यशस्वी सम्पादक और हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर के व्यवस्थापक।

१३— ,, मुनि जिनविजय—प्राचीन जैन लेख संग्रह, जैन साहित्य संशोधक आदि के सम्पा० अनेक ऐतिहासिक लेखों के लेखक।

१४— ,, पं० सुखलाल—अनेक ऐतिहासिक लेखों के लेखक तथा 'सम्मतितर्क' जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ के सम्पादक।

१५— ,, पं० बेचरदास—प्राकृत, व्याकरणादि अनेक ग्रन्थों तथा जैन-साहित्य में विकार आदि ऐतिहासिक कृतियों के रचियता।

१६— ,, पं०जुगलकिशोर मुख्त्यार—जैन-हितैषी,अनेकान्त जैसे ऐतिहासिक पत्रों के सफल सम्पादक तथा "समन्तभद्र" आदि ग्रन्थरत्नों के लेखक।

१७— ,, बा० मोहनलाल देसाई वकील—

१८— ,, मुनिविद्याविजय-अनेकान्त में प्रकाशित कालकाचार्य्य आदि ऐतिहासिक लेखों के लेखक।

१९— ,, मुनि पुण्यविजय—ना० प्र० प० में प्रकाशित "वीर नि० सं० और कालगणना" तथा अनेकान्त में प्र० खारवेल आदि के लेखक।

२०— ,, बा० पूर्णचन्द्र नाहर वकील—ले० जैन-लेख-संग्रह आदि।

२१— ,, ब्र० शीतलप्रसाद—बङ्गाल, विहार, संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रदेश, आदि प्राचीन जैन-स्मारकोंके सम्पादक—

२२— „ प्रो० हीरालाल एम० ए० एल० एल० बी०— सम्पादक प्राचीन-जैन-शिलालेख-संग्रह ।

२३— „ मुनि हिमांशुविजय न्यायतीर्थ—

२४— „ सेठ पद्मराज जैन रानीवाले—भू० पू० सम्पादक जैन-सिद्धान्त- भास्कर, आरा।

२५— „ बा० सुखसम्पतराय भण्डारी—ले० भारत के देशी-राज्य, आदि ।

२६— „ बा० चन्द्रराज भण्डारी—ले० भगवान् महावीर, भारत के हिन्दू सम्राट् आदि ।

२७— „ बा० सूरजमल, हरदा—ले० जैन इतिहास ।

२८— „ बा० कामताप्रसाद—ले० भगवान् महावीर, पार्श्वनाथ आदि ।

२९— „ पं० के० भुजबलि शास्त्री—अनेकान्त, वीर, दिगम्बर-जैन आदि में प्रका० अनेक ऐतिहासिक लेखों के लेखक ।

३०— „ बा० छोटेलाल, कलकत्ता—ले० प्राचीन प्रतिमा लेख-संग्रह आदि ।

३१— „ ए० एन० उपाध्याय, एम०ए०—रिसर्च के विद्वान, तथा कई ऐतिहासिक लेखों के लेखक ।

३२— „ प्रो० बेनीप्रसाद एम० ए०—ले० हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता ।

३३— ,, साहित्य-रत्न पं० दरबारीलाल न्यायतीर्थ—जैन-जगत में धारावाही रूप से प्र० "जैन-धर्म के मर्म" शीर्षक ऐतिहासिक लेख के लेखक।

उपरोक्त वर्तमान लेखकों में कितने ही इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान हैं। जैनेतर विद्वानों ने भी उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, इन्होंने इतिहास सेवा अपने जीवन का ध्येय बना लिया है। और भविष्य में उन से बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं किन्तु खेद है कि सामाज की ओर से तनिक भी उत्साह न मिलने के कारण उपरोक्त विद्वानों में से कितने ही इस ओर से उदासीन होगये हैं। रात-दिन व्यापार में फँसे रहने वाली जैन-समाज की इस ओर ज़रा भी रुचि नहीं है। नहीं तो "जैनहितैषी", "जैन-सिद्धान्त-भास्कर", "अनेकान्त" और "जैन-साहित्य संशोधक" जैसे उच्चकोटि के अनुसन्धान-कारक पत्रों की इस प्रकार अकाल में ही जीवन लीला समाप्त न होती। वीर-रस का हमारे यहाँ न कोई साहित्य ही है और न अभीतक कोई ऐतिहासिक पुस्तक देखने में आई है[१]

१—वीर-रस की ओर कलम उठाने वाले जैन-समाज में मान्य बा० उमरावसिंहजी टाँक बी० ए०एल० एल० बी० प्लीडर, देहली, पहिले व्यक्ति हैं। जिन्होंने 'Some Distinguihed Jains.." नाँमक पुस्तक में कुछ ओसवाल जैनवीरों का

(शेष पृष्ठ ४२ पर)

यही कारण है, कि हमारे पवित्र अहिंसाधर्म पर प्रायः अनेक बार जिम्मेदार लोगों ने भी कायरता का लांच्छन लगाने का पुण्य संचय किया है। इसके लिये दोषी हमीं हैं। अपने-अपने प्लेटफार्म से सभी अपने-अपने पूर्वजों के रण-कौशल को सुनाकर उपस्थित जनता में वीरता का संचार करते, और हमारे यहाँ भी उन्हीं को दोहरा कर इस कमी की पूर्ति की जाती, पर जिनके पहलू में दिल और दिल में दर्द है, जिनके पास मस्तक, मस्तक में आँखें और उनमें स्वाभिमान का डोरा पड़ा हुआ है वे कभी इस उधारू चीज की सराहना नहीं कर सकते। मैं भी उन्हीं में से एक हूँ, जब कभी ऐसा प्रसंग आता तो कलेजा थाम कर रह जाता, हृदय पहलू में मचलता और सब्र की घूंट पीकर रह जाता, बेवस था, असमर्थ था, कभी स्वप्न में भी ध्यान नहीं था कि यह धृष्टता मुझी से होगी।

(पृष्ठ ४१ के फुट नोट का शेष)

के विषय में प्रकाश डाला है। किन्तु वह भी पूर्ण साधन और समाज की ओर से उत्साह न मिलने के कारण १९ वर्ष से मौन हैं। मेरे वे अत्यन्त हितैषी हैं—समय-समय पर उचित सलाह देते रहे हैं। राजपूताने के जैनवीरों के संकलन करने में (जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा) मुझे उन्होंने आवश्यकता से अधिक साहित्यिक सहायता पहुँचाई है। उन्हें किन शब्दों में धन्यवाद दूँ। यह मैं स्वयं नहीं जानता, अस्तु न सही हृदय तो जानता है न ?

जुलाई सन् २६ में लाला मुन्शीरामजी सम्पादक "वैश्य-मार्तण्ड" देहली के आग्रह करने पर "अक्ल की मरम्मत" शीर्षक निबन्ध लिखा और वह "वैश्य-मार्तण्ड" में चार पाँच अंकों में प्रकाशित भी होगया। यही निबन्ध कुछ परिवर्त्तन करके कई मित्रों के अनुरोध से सन् २८ के जैनमित्र में धारा वाही रूप से ३३ कालमों में प्रकाशित हुआ। इसी निबन्ध को पढ़कर मान्य प्रोफ़ेसर घासीरामजी ने मुझे उत्साहित किया और इसे परिवर्द्धित कर के पुस्तकाकार में छपवाने के लिये जोर दिया। मैं अपनी ज्ञानजनित असमर्थता दिखलाता ही रहा पर वे न माने और मुझे जबरन इस कार्य में जुटा दिया। अस्तु वही निबन्ध एक वर्ष बाद अर्थात् जनवरी सन् ३० में "जैनवीरों का इतिहास और हमारा पतन" नाम से १६० पृष्ठों में मित्र-मण्डल ने प्रकाशित किया। पुस्तक प्रकाशित होते ही मुझे आवश्यक्ता से अधिक प्रोत्साहन मिला, आशा से अधिक बधाइयों के बण्डल आये। हृदय खुल गया, पुनः इसी कार्य में जुट गया पर, लंगोटी वाले बाबा ने शंखनाद बजाया, शंखनाद को सुनते ही बन्दा भी सवा दो वर्ष को सीक्लास की पंक्ति में जा बैठा। वहाँ लिखने पढ़ने को कहाँ ? खूब मुफ़्त रोटियाँ तोड़ीं। गान्धी-अर्विन समझौते पर लोग छोड़े गये, पर मैं था क़िस्मत का धनी, नहीं, निकाला गया और वहीं सवा दो वर्ष डंड पेलता रहा। "आखिर मेरे जैसे निठल्ले को अपना कोई अन्न कहाँ तक ख़राब

कराता, सज़ा पूरी होते ही धक्के मिल गये ! नाचार मुँह लटकाये मैं घर आगया। हृदय में उल्लास था कि बहुत कुछ लिखूँगा, मुफ़्ती रोटियों की सब कोर-कसर निकाल दूँगा। इसलिये घर आते ही शारीरिक स्वास्थ्य की तनिक भी चिन्ता न कर के इस महान् कार्य में जुट गया।

मेरा विचार निम्नलिखित निबन्ध लिखने का था:—

१—जैनकालीन और वर्तमान भारत अर्थात् हमारा उत्थान और पतन[1]।

२—अहिंसा और कायरता[2]।

१—इस निबन्ध में महाभारत से लेकर आज तक के भारत के उत्थान और पतन पर वास्तविक प्रकाश डालने का विचार था, भारत के उत्थान-कर्त्ता कौन थे? पतन किन के हाथों हुआ, विदेशीय यहाँ कैसे घुसे, हमारी परतंत्रता का असली कारण क्या है। भारत के चमकते दिनों में यहाँ की वीरता-धीरता सभ्यता, संस्कृतिः शिल्पकला, कला-कौशल, उद्योग-धन्दे, चिकित्सालय कैसे थे, यहाँ साहित्य-काव्य ज्योतिष आदि का ज्ञान कैसी पराकाष्ठा को पहुँच चुका था? १५०-२०० पृष्ठों में इसी पर विवेचन करना था।

२—अहिंसा पर किये जाने वाले निर्मूल आक्षेपों तथा कायरता को ही अहिंसा समझने वाले व्यक्तियों का पूर्ण समाधान इस निबन्ध में होता।

३—जैनवीरों का इतिहास[1]।

क—पौराणिक खण्ड।

ख—ऐतिहासिक खण्ड।

४—स्वतंत्रता-यज्ञ में जैनों की आहुति[2]।

ये निबन्ध तक़रीबन १००० पृष्ठों में आजाते! मैंने जैन-वीरों का इतिहास के ऐतिहासिक खण्ड की पूर्ति के लिये श्रीगणेश किया और जैसे तैसे मौर्यवंश का उल्लेख कर पाया था कि मेरे जैसे बेपर्वाह व्यक्ति को भी मान्सिक, शारीरिक और आर्थिक स्थितियों ने इस प्रकार जकड़ लिया कि मेरा सब नशा हिरन होगया, चारों तरफ़ निराशा के बादल उमड़ आये, इस विपत्ति से लाख प्रयत्न करने पर भी निजात न मिल सकी और अन्त में वही हुआ जिसकी कभी स्वप्न में भी आशा नहीं की जासकती थी। सब पुस्तकों को बाँधकर सन्दूकों में पटक दिया, लाई हुई पुस्तकें यथास्थान पहुँचा दीं और सदैव के लिये इन विचारों को तिलाँजली दे दी। यह सब निर्णय करते समय मेरे हृदय को कितना आघात पहुँचा होगा। यह वही समझ सकेंगे, जिन्होंने अपनी जीवन भर की कमाई को इस प्रकार लुटने देखा है अथवा जो ज़रा सा

१—क—आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व की वीर रस पूर्ण पौराणिक महाकवियों का समावेश।

ख—इन ढाई हज़ार वर्ष में होने वाले असंख्य जैन-वीरों का ऐतिहासिक जीवन-भाग संग्रह करने का विचार था।

२—वर्तमान युग का आन्दोलन और जैनियों की की गई देश-सेवाओं का उल्लेख तथा उनका संक्षेप में जीवन-चरित्र।

सहारा न मिलने से मंजिलेमक़सूद तक पहुँचने पर भी औंधे मुंह गिर पड़े हैं—हा !

वसीले हाथ ही आये न क़िस्मत आजमाई के ।

अस्तु, जो कुछ लिखा गया था उसे भी जला डालने की इच्छा थी । पर भाई पन्नालालजी अग्रवाल (जो कि देहली के एक प्रसिद्ध और अनथक उत्साही युवक हैं) के भय से ऐसा न कर सका । वास्तव में इन कृतियों पर उन्हीं का अधिकार है, उन्होंने ही लेख सम्बन्धी सब साधन जुटाये हैं-उन्होंने ही प्यार की थपकियाँ दे-दे कर लिखाया है अतएव आज उन्हीं के और प्रो० घासीरामजी के प्रेमपूर्ण-अनुरोध से यह प्रेस में जा रही है । यदि पुस्तक कुछ रुचिकर हुई तो उसका सब श्रेय इन दोनों महानुभावों को ही मिलना चाहिये और दोषों का जिम्मेदार मैं हूँ ही ।

वास्तव में मैंने जैन-वीरों का इतिहास-(जिसका कि एक खण्ड, मौर्यसाम्राज्य के जैन-वीर, पाठकों के कर कमलों में है) संकलक करने की अनधिकार चेष्टा की है न मेरे पास इसके लिये साधन ही हैं और न इस विषय का मुझे कुछ ज्ञान ही है, फिर भी मैंने यह जान बूझकर धृष्टता की है, मेरी इस उद्दण्डता को विद्वान-पाठक क्षम्य समझेंगे भी या नहीं, इसकी मुझे इस समय चिन्ता भी नहीं है । जहाँ आग लगी हो, वहाँ बुझाने में अधिकार-अनधिकार का ध्यान ही नहीं रहता । सभी अपनीं शक्ति-अनुसार उस समय साधन

जुटाते हैं। मैंने भी यही किया है। जब सभी इस ओर से उदासीन हैं, तब मैं ही यह कार्य क्यों न करूँ? यदि विद्वानों को मेरी इस धृष्टता पर क्रोध भी आया, तो क्या हुआ? वे उसी आवेश में इस कमी को पूर्ण तो कर डालेंगे; और तभी मुझे मेरी इस उद्दण्डता का फल मिल जायगा। जिस घर में आग लगी हो अथवा चोर घुसे हों और गृह-स्वामी अचेत पड़े सोते हों तब एक लूला और गूँगा बालक पत्थर मारकर सोने वालों को सावधान कर देता है। ठीक यही दुस्साहस मैंने किया है[१]?

न मालूम इस संसार के अन्धेरे कोने में कितने जैन-वीरों के पराक्रम कहाँ २ किस रूप में छिपे हुए पड़े हैं। किन्तु मैंने अपनी इस इतिहास माला में उन्हीं जैन-वीरों की वीरता का परिचय दिया है। जिनकी वीरता-धीरता आदि की मुक्तकंठ से और एकमत होकर विदेशीय और अजैन विद्वानों ने अपनी सुकृतियों में सादर उल्लेख किया है साथ ही जिन्हें इतिहास के प्रकाण्ड विद्वानों ने जैनी माना है। मेरी यह निबन्धावलि किसी प्रकार की मौलिकता का दावा नहीं करती, इसमें सब कुछ विदेशीय-विधर्मीय विद्वानों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों के उद्धरण मात्र है। फिर भी लाला

१—तुम्हारी सीनाफ़िगारी कोई तो देखेगा।
न देखे अब तो न देखे कभी तो देखेगा॥
—आजाद

लाजपतराय के शब्दों में यदि यह कहा जाय कि "अन्य लेखों से अपने मतलब की बातें खोजने, उनकी सत्यता की जाँच करने और उनको प्रमाण स्वरूप उपस्थित करने की अपेक्षा किसी विषय पर एक मौलिक निबन्ध लिखना अधिक सरल है" तो कुछ अत्युक्ति न होगी। परन्तु इतिहास का विषय ही ही ऐसा है। इसमें जो भी कुछ कहा जाय वह प्रामाणिक और मान्य विद्वानों के मत और युक्तियों को लेकर ही कहना चाहिये। इतिहास-लेखक वही हैं जिसकी कृति आद्योपान्त पढ़ जाने पर भी यह विदित न हो सके कि लखक किस धर्म या देश पर अनुराग रखने वाला है। उसका प्रत्येक शब्द बे लाग, निष्पक्ष, और सत्य को लिये हुये होना चाहिये। जो वास्तिविक घटना है उसको उसी रूप में प्रकट करना यही इतिहास-लेखक का धर्म और ईमान है। अपनी ओर से इतिहास पर टीका टिप्पणी करने का लेखक को अधिकार नहीं। हाँ जहाँ कोई ऐसी घटना घटित हुई है जिसके समझाने में पाठकों के भ्रम में पड़ जाने का भय हो तब उस पर केवल अपनी सम्मति प्रकट करने का अधिकार अवश्य है। इतिहास की भाषा अत्यन्त संयत उसके शब्द नपे तुले सीधी साधी भाषा में होने चाहिये। अलंकृत और लच्छेदार भाषा इतिहास की प्रामाणिकता को नष्ट कर देती है।

'दास' ने कहाँ तक उक्त बातों का ध्यान रक्खा है, यह पुस्तक पढ़ने से ज्ञात हो सकेगा। यदि विद्वान-पाठकों ने पुस्तक

में रही हुई त्रुटियों से मुझे सूचित किया तो मैं उनका अत्यन्त आभारी रहूँगा। पाठक भी निष्पक्ष भाव से पढ़ें ऐसी विनीत प्रार्थना है।

समय अनुकूल रहा और परिस्थितियों से विजय प्राप्त कर सका तो ऐसे-ऐसे १०-१५ खण्ड पाठकों के करकमलों तक पहुँचाने का प्रयास करूँगा।

क्या जैन-समाज! जो भाड़ और भट्टियों के बन्द कराने, कुत्तों को दूध पिलाने ने, तीतर, कबूतर, बटेर, और कौओं, को शिकारियों से छुड़ाने में विपुल द्रव्य व्यय करती है, वह अपने पूर्वजों की धवल-कीर्ति रूप इतिहास को जीवित रखने के लिये भी कुछ उद्योग करेगी? यदि हाँ, तो कब? जब समय निकल गया तो फिर क्या लाभ[1]? बक़ौल "इक़बाल" साहब के—

अगर अब भी न समझोगे तो मिट जाओगे दुनियाँ से।
तुम्हारी दास्ताँ तक भी न होगी दास्तानों में॥

१—हमने माना कि तग़ाफ़ुल न करोगे, लेकिन।
ख़ाक हो जाँयगें हम, तुमको ख़बर होने तक॥
—"ग़ालिब"

व्यापार-विद्या में निपुण जैनियों ! भविष्य में आने वाले खतरे से सावधान रहो, यह समय बड़ा नाजुक है जो जरा चूका, बस उसकी खैर नहीं। प्रकृति पुकार पुकार कर कह रही है:—

ले चुके अँगड़ाइयाँ ऐ गेसुओ वालो, उठो।
नूर का तड़का हुआ, ऐ शबके मतवालो उठो॥

—"वक़्र"

राष्ट्रीय-औषधालय
गली-बरना, सदर-देहली.
विजय-दशमी सन् ३२

विनीत—
अ० प्र० गोयलीय 'दास'

सहायक ग्रन्थ-सूची

प्रस्तुत निवन्ध के निर्माण में निम्नलिखित लेखकों, सम्पादकों और कवियों की कृतियों से विशेषतया सहायता लीगई है, और कई स्थानों पर उनके अवतरण और मत उद्धृत किये गये हैं। अतएव लेखक उनकी मूल्यवान रचनाओं का हृदय से आभारी है।

कवि-सम्राट् श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर कृत, "स्वदेश"।

श्री० बंकिमबाबू कृत, "बंकिमनिबन्धावलि"।

काका कालेलकर कृत और श्री निवासाचार्य्य द्वारा अनुदित "जीवन साहित्य"।

पं० नाथूराम प्रेमी द्वारा पठित, "सप्तम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन जबलपुर, लेखमाला"।

साहित्याचार्य्य पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ कृत, "भारत के प्राचीन राजवंश"।

बा० सूरजमल हरदा, द्वारा सम्पादित, 'जैनधर्म का महत्व'।

पं० जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा सम्पादित 'अनेकान्त'।

बा० सम्पूर्णानन्द कृत, "सम्राट्-अशोक"।

श्री सत्यकेतु विद्यालंकार कृत, 'मौर्यसाम्राज्य का इतिहास'।

श्री० जनार्दन भट्ट एम० ए० कृत, "बौद्धकालीन भारत", "अशोक के धर्मलेख"।

श्री० हेमचन्द्राचार्य कृत और मुनि तिलकविजय द्वारा अनुदित, "परिशिष्टपर्व"।

श्री० रत्नकीर्ति आचार्य कृत और पं० उदयलाल काशलीवाल द्वारा अनुदित, "भद्र-बाहु चरित्र"।

पं० नाथूराम प्रेमी द्वारा अनुदित, "पुण्याश्रव कथाकोष"।

प्रो० हीरालाल एम० ए० एल० एल० बी० द्वारा सम्पादित, "जैन-शिला लेख संग्रह"।

सेठ पद्मराज रानीवाले द्वा० सं०, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर'।

पं० नाथूराम प्रेमी द्वा० सं० "जैन-हितैषी"।

जै० ध० भू० ध० दि० ब्र० शीतलप्रसाद द्वा० सं०, "संयुक्तप्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक"।

पं० बलदेवप्रसाद मिश्र द्वारा अनुदित, हिन्दी "टाड्राजस्थान प्रथम भाग"।

महामहोपाध्याय रा० ब० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत, "राजपूताने का इतिहास"।

श्री० महाराज बहादुर "बर्क़" बी० ए० देहल्वी, ला० शेरसिंह जैन "नाज़" देहल्वी, सर डा० मुहम्मद "इक़बाल", श्री० जगमोहनलाल "रवाँ" लखनवी, उस्ताद 'ग़ालिब', 'आजाद', देहल्वी, श्री० "आशुफ़्ता" बा० मैथिलीशरण गुप्त पं० राधेश्याम कविरत्न, श्री० वियोगीहरि और श्री० जगतनारायण आदि, कवियों कृत बहुमूल्य कविताएँ।

मौर्यसाम्राज्य के जैनवीर
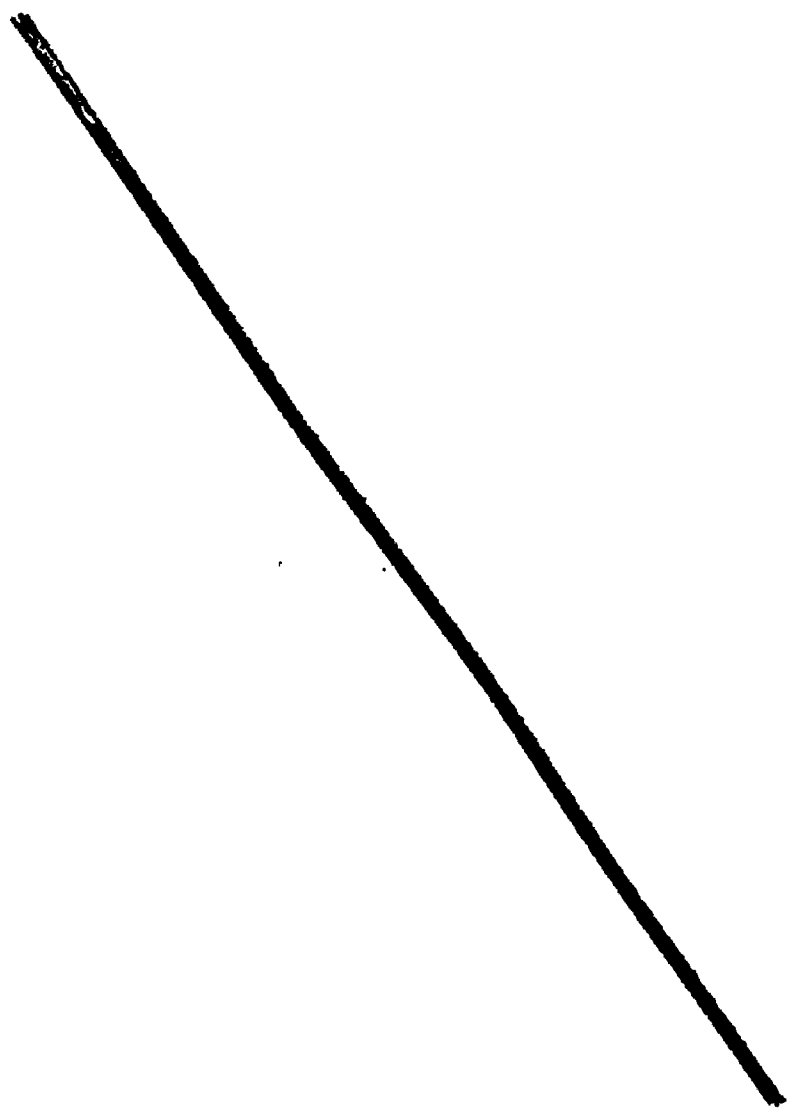
१—चन्द्रगुप्त

जिसके समक्ष न एक भी विजयी सिकन्दर की चली-
वह चन्द्रगुप्त महीप था, कैसा अपूर्व महाबली ?
जिससे कि "सिल्यूकस" समर में हार मुँह की ले गया-
कान्धार आदिक देश देकर निज सुता था दे गया ॥

—मैथिलीशरण गुप्त

[१]

भारत का नाम संस्करण

और

उसका प्रथम ऐतिहासिक सम्राट्

जासु समर-हुँकारतें काँपतु विश्वविराट् ।
सेल्युकस-गज-सिंह सो जयतु गुप्तसम्राट् ॥

—वियोगी हरि

तीर्थंकर, अवतार, ऋषि, मुनि, दानी, ज्ञानी, युद्धवीर, कर्मवीर, धर्मवीर, आदि महात्माओं की क्रीड़ास्थली स्वर्ग तुल्य हमारी वीर-प्रसवा मातृ-भूमि का "भारत" नामकरण जैन-धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ति

के नाम पर हुआ है[१]। भरत चक्रवर्ति ही प्रथम सम्राट् थे जो सारे भारत को पहले पहल एक छत्र के नीचे लाने में समर्थ हुये। तभी से इस देश का नाम भारतवर्ष प्रचलित हुआ। इस से पूर्व "सप्तसैन्धव" नाम प्रसिद्ध था। जैनग्रन्थों के लेखानुसार चन्द्रगुप्त से पूर्व समय २ पर १ भारत, २ सगर, ३ मघवा, ४ सनत्कुमार, ५ शान्तिनाथ, ६ कुन्थुनाथ, ७ अरनाथ, ८ सुभूम, ९ पद्म वा महापद्म, १० हरिषेण, ११ जत्र और १२ ब्रह्मदत्त नामके बारह चक्रवर्ति हुये हैं। किन्तु सिवाय पुराणों-प्रथमानुयोग-ग्रन्थों के-इनका कोई ऐतिहासिक विवरण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इसी लिये भारत का एक छत्रसम्राट् चन्द्रगुप्त को ही समझा जाता है। वर्तमान समय तक इतिहास-लेखकों ने जितने भारतीय वीर, राजा, महाराजाओं और भारतविजेताओं के समय निश्चित किये हैं; इन सब में प्राचीन निर्णीत समय सिकन्दर का और उसके उद्दण्ड-भुजदण्ड से विलोडित भारतवर्ष का उद्धार करने वाले मौर्यसाम्राज्य—संस्थापक

१—श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अध्याय ४ में लिखा है:—

"येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत्। येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति" ॥९॥

अर्थात्—भगवान् ऋषभदेव के बड़े पुत्र का नाम भरत था, इसी से इस देश को भारत कहते हैं। (भारत के प्राचीन राजवंश भाग २ रा पृ० १)

सम्राट् चन्द्रगुप्त का है। आज तक इतिहास पुरातत्त्ववेत्ताओं ने जितने भी सर्व प्राचीन शिलालेख एकत्रित किये हैं, उन सब में प्राचीनतम शिलालेख चन्द्रगुप्त के ही मिले हैं। इसी-लिये मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त को ऐतिहासिक विद्वानों ने भारत-वर्ष का सर्व प्रथम सम्राट् माना है। इसी के जीवन से भारत के रंगमंच की यवनिका उठती है—ऐतिहासिक युग प्रारम्भ होता है। अतएव सब से प्रथम इसी महापुरुष, भारत-केसरी-अभिनय के प्रधानपात्र के सम्बन्ध में यहाँ उल्लेख किया जाता है।

चन्द्रगुप्त से पूर्व भारत की धार्मिक और राजनीतिक स्थिति।

जिस वीर—चूड़ामणि ने अनेक राष्ट्रों में बटे हुए छिन्न-भिन्न भारतवर्ष को एक करके एकछत्र साम्राज्य की स्थापना की, **और विदेशियों को बाहर निकाल कर भारतीयों को पराधीनता से मुक्त** करने का पुण्य-संचय किया; उस अतुल वैभव-शाली, महान् पराक्रमी राजर्षि सम्राट् के जीवन-वृतान्त, शासन-पद्धति न्यायव्यवस्था, धार्मिक-विश्वास, चरित्र आदि का उल्लेख करने से पूर्व चन्द्रगुप्त के राज्यारूढ़ होने से पूर्व—भारत की धार्मिक और राजनैतिक अवस्था कैसी थी, यह समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि उस से चन्द्रगुप्त के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है—चन्द्र-

गुप्त को साम्राज्य-स्थापन में किन २ विघ्न-बाधाओं और आपत्तियों का सामना करना पड़ा होगा, उसे अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिये कैसे २ बीहड़ झाड़ों और पथरीले मार्गों को तय करना पड़ा होगा—यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है।

पहले धार्मिक दशा पर ही विचार कीजिये। आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व अर्थात् चन्द्रगुप्त से २०० वर्ष पहले भारत का वातावरण बहुत ही क्षुब्ध, पीड़ित तथा संत्रस्त हो रहा था। समस्त जगह त्राहि-त्राहि मची हुई थी, कोई किसी के दुःख-सुख की बात पूछने वाला न था। सभी अपनी स्वार्थ-सिद्धि की धुन में मस्त थे, स्वर्गीय सुखों के कल्पित स्वप्नों ने उन्हें मतवाला बना दिया था; जिस प्रकार भी हो सके अपनी मनोवाँच्छित कामना पूर्ण करना उस समय के मनुष्य समाज का मुख्योद्देश बन चुका था। ऐसे समय में मक्कारों की बन आई थी, स्वर्गीय सुखों की लालसा देकर भोले जीवों की तृष्णा और भी बढ़ादी थी। इन लोगों ने अपनी ऐय्यारी में कुछ भी कसर नहीं रक्खी थी; ये लोग झूँठे बढ़ावे दे देकर के व्यभिचार और जीवहिंसा का उपदेश वेद-वाक्य बताकर खुल्लम खुल्ला धर्म के ठेकेदार बन बैठे थे। मनुष्य-समाज इनके इशारे पर नाचने लगा था। संसार में कोई भी ऐसा बीभत्स कार्य नहीं था जो इन धर्मध्वज-ढोंगियों द्वारा नहीं किया गया हो। इनके उपदेश से देवी-

देवताओं के सन्मुख अथवा यज्ञों में गूंगे-मूक पशु निर्दयता पूर्वक बलिदान किये जाते थे; स्वर्गों को तृष्णा से घोर आक्रन्दन करते हुए भी यज्ञों में स्वाहा कर दिये जाते थे, जिनके रक्तसे कलकल करती हुई भारतवर्ष में नदी वहने लगी थी[1]। उस समय का रोमाँचकारी चित्र "जैनहितैषी," "जैन गजट" और "अनेकान्त" के भूतपूर्व यशस्वी सम्पादक पण्डित जुगल-किशोर जी इस प्रकार चित्रित करते हैं:—

"दीन-दुर्बल खूब सताये जाते थे; ऊँच-नीच की भावनाएँ जोरों पर थीं, शूद्रों से पशुओं जैसा व्यवहार होता था, उन्हें कोई सम्मान या अधिकार प्राप्त नहीं था, वे शिक्षा, दिक्षा और ऊच्च संस्कृति के अधिकारी ही नहीं माने जाते

१—लोकमान्य वालगंगाधर तिलक ने एकबार व्याख्यान देते हुये कहा थाः—

"पूर्वकाल में यज्ञ के लिये असंख्य पशुहिंसा होती थी। इसके प्रमाण मेघदूत काव्य तथा और भी अनेक ग्रन्थों से मिलते हैं। रन्तिदेव नामक राजा ने जो यज्ञ किया था, उसमें इतना प्रचुर वध हुआ था कि नदी का जल खून से रक्त-वर्ण हो गया था। उसी समय उस नदी का नाम चर्मण्वती (चम्बल) प्रसिद्ध है। पशु-वध से स्वर्ग मिलता है, इस विषय में उक्त कथा साक्षी है। परन्तु इस घोर हिंसा का ब्राह्मण-धर्म से बिदाई ले जाने का श्रेय (पुण्य) जैनधर्म के हिस्से में है।" (जैन-धर्म का महत्त्व प्रथम भाग पृ० ८४)

थे और उनके विषय में बहुत निर्दय तथा घातक नियम प्रचलित थे। स्त्रियाँ भी काफी तौर पर सताई जातीं थीं, उच्चशिक्षा से वञ्चित रक्खी जाती थीं; उनके विषय में "न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति" जैसी कठोर आज्ञाएँ जारी थीं और उन्हें यथेष्ट मानवी अधिकार प्राप्त नहीं थे—बहुतों की दृष्टि में तो वे केवल भोग की वस्तु, विलास की चीज़ पुरुष की सम्पत्ति अथवा बच्चा जनने की मशीन मात्र रह गईं थीं। ब्राह्मणों ने धर्मानुष्ठान आदि के सब ऊँचे-ऊँचे अधिकार अपने लिये रिज़र्व रख छोड़े थे—दूसरे लोगों को वे उनका पात्र ही नहीं समझते थे। सर्वत्र उन्हीं की तूती बोलती थी, शासन-विभाग में भी उन्होंने अपने लिये खास रिआयतें प्राप्त कर रक्खी थीं। घोर से घोर पाप और बड़े से बड़ा अपराध कर लेने पर भी उन्हें प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था। जब कि दूसरों को एक साधारण से अपराध पर भी फाँसी पर चढ़ा दिया जाता था। ब्राह्मणों के बिगड़े हुये जाति-भेद की दुर्गन्ध से देश का प्राण घुट रहा था, और उसका विकास रुक रहा था, ख़ुद उनके अभिमान तथा जातिमद ने उन्हें पतित कर दिया था और उनमें लोभ-लालच, दम्भ, अज्ञानता, अकर्मण्यता, क्रूरता तथा धूर्ततादि दुर्गुणों का निवास होगया था। वे रिश्वतें अथवा दक्षिणाएँ लेकर परलोक के सार्टिफ़िकेट और पर्वाने तक देने लगे थे, धर्म की असली भावनाएँ प्रायः लुप्त होगई थीं

और उनका स्थान अर्थ-हीन क्रिया-काण्डों तथा थोथे विधिविधानों ने ले लिया था।.........इस तरह देश में चहुँ ओर अन्याय-अत्याचार का साम्राज्य था—बड़ा ही बीभत्स तथा करुण दृश्य उपस्थित था—सत्य कुचला जाता था, धर्म अपमानित हो रहा था, पीड़ितों की आहों के धुँये से आकाश व्याप्त था, और सर्वत्र असन्तोष ही असन्तोष फैला हुआ था[1]।"

बाबू सम्पूर्णानन्दजी लिखते हैं:—"यह दशा कब तक रहती? धीरे-धीरे सुधारक खड़े होने लगे। शूद्रोंमें तो सुधारक होते ही कहाँ से, क्योंकि उन विचारों में विद्या का एक-मात्र अभाव था, यदि वे धर्म-क्षेत्र में आचार्य्य बन कर पाँव रखने का साहस करते तो प्राणों से ही हाथ धोते! वैश्य भी प्रायः उच्च शिक्षा से वञ्चित ही थे, फिर उनके मस्तिष्क अपने व्यापार-धन्धों से ऊपर जाते ही कम थे।......ब्राह्मण सुधार का नाम ही क्यों लेते, क्योंकि सुधार से उनकी सरासर हानि थी। बस क्षत्रिय बचगये। ये प्रभावशाली थे और शासक जाति होने के कारण इनको प्रजा के कल्याण के सम्बन्ध में बहुधा सोचने की आवश्यकता पड़ा करती थी। इनके पास अवकाश भी था, महत्त्वाकाँक्षा भी थी, विद्या भी थी, उदारता भी थी। इसी से अधिकांश सुधारक क्षत्रिय हुए। इनमें दो की कीर्ति चिरस्थायनी होगई। एक महावीर (जैन-

---

१—अनेकान्त वर्ष १ किरण १ पृ० ७-८।

धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर) और दूसरे गौतमबुद्ध।......
ये दोनों महात्मा समकालीन थे। इनका समकालीन होना इस बात का प्रमाण है कि जिन शिक्षाओं का इन्होंने प्रचार किया उनकी देश में वस्तुत:आवश्यकता थी[1]। धीरे २ इनका प्रचार हो चला,लोगों के धार्मिक और सामाजिक विचारों में उदारता आने लगी। आवश्यकता इस बात की थी कि कोई सबल पृष्ठ-पोषक इन विचारों को सर्वदेशीय बना दे।"

१—भगवान् महावीर ने संसार में सुख-शान्ति स्थिर रखने और जनता का विकास सिद्ध करने के लिये चार महासिद्धान्तों की १ अहिंसावाद, २ साम्यवाद, ३ अनेकान्तवाद (स्याद्वाद्) और ४ कर्मवाद नामक महासत्यों की—घोषणा की है और इनके द्वारा जनता को निम्न बातों की शिक्षा दी है:—

(१) निर्भय-निर्वैर रह कर शान्ति के साथ जीना तथा दूसरों को जीने देना।

(२) राग-द्वेष-अहंकार तथा अन्याय पर विजय प्राप्त करना और अनुचित भेद-भाव को त्यागना।

(३) सर्वतोमुखी विशाल दृष्टि प्राप्त कर के अथवा नय, प्रमाण का सहारा लेकर सत्य का निर्णय तथा विरोध का परिहार करना।

(४) अपना उत्थान और पतन अपने हाथ में हैं ऐसा समझते हुये, स्वावलम्बी बनकर अपने हित-साधन में मदद करना। ("अनेकान्त" वर्ष १ किरण १ पृ० ९-१०)

"राजनैतिक क्षेत्र में भारत एक ऐसे रोग से पीड़ित था जो समय-समय पर उसे कई बार सता चुका है। देश में एकछत्र शासन का अभाव था। छोटे बड़े सैकड़ों नरेश राज्य कर रहे थे। अपने २ राज्यों में सभी महाराज, महा-राजाधिराज, राजराजेश्वर थे, पर सभी का बल परिमित और ऐश्वर्य्य थोड़ा। इसका परिणाम यह था कि आपस में भले ही लड़ झगड़ लें, इतनी सामर्थ्य किसी में न थी कि सबल विदेशी शत्रुओं का सामना कर सकता। और इनके संयुक्त होने की तो आशा ही कैसे की जासकती थी? कुशल यह थी कि शक, हूण, पठान, मुग़ल आदि सा कोई विदेशी शत्रु भारत की ओर आया ही नहीं; नहीं तो इन सब को चट कर गया होता[1]।"

सिकन्दर का आक्रमण

ऐसे ही दुर्दिनों में ३२५ ई० पू० उचित अवसर पाकर सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। सिकन्दर महान् योद्धा और नीतिनिपुण था। वह शीघ्रगति से भारत में घुसा चला आया, और पंजाब विजय करके लौट गया, यदि वह आगे बढ़ा होता तो निसन्देह सारे भारत का सम्राट् बन जाता, पर वह स्वयं ही लौट गया! सिकन्दर यहाँ विजयी हुआ, इसका यह तात्पर्य्य नहीं कि उस समय के

१—सम्राट् अशोक पृ० ४-७।

भारतवासी भीरु अथवा कायर थे। नहीं, वे युद्ध-कौशल में अद्वितीय समर-केसरी थे। वह जीवन के अन्त समय तक रण से विमुख नहीं होते थे। वह तलवार के धनी और वीरता में यकताँ थे। यह सब कुछ होते हुये भी परस्पर संगठन न होने और आपसी फूट के कारण भारतीयोंको उस समय नीचा देखना पड़ा। अन्यथा भारत के इकले सपूत राजा पुरु ने रणक्षेत्र में सिकन्दर के दाँत खट्टे कर दिये थे। "जिस वीरता और पराक्रम के साथ स्थान-स्थान पर भारतियों ने सिकन्दर का मुक़ाविला किया वह सचमुच में आश्चर्य्यजनक है। वाज के समान तेज चलने वाले सिकन्दर को हिन्दुकुश से सिन्ध तक केवल दस मास लगे, पर सिन्ध से व्यास तक १९ मास लग गये[१]।

सिकन्दर के इस आकस्मिक आक्रमण से चोट खाये हुये भारतवासी चुटीले सांप की तरह व्याकुल हो उठे, वे गोली खाये हुये शेर की भांति दीख पड़ने लगे। उनकी आंखें खुलीं, अब वे राजनैतिक एकता का भी महत्व समझने लगे। उनके नेत्रों के आगे संगठन के अन्दर छिपे हुये गूढ़ तत्व बाइस्कोप के चित्रों के समान नाचने लगे। जो देश व जाति सङ्गठन के सूत्र में सङ्गठित नहीं, एक दूसरे की आपत्ति में सम्मलित नहीं, वह देश अथवा जाति कितनी ही धर्म की डींग मारे, अध्यात्म-अध्यात्म चिल्लाये, जीवन-मुक्त होने के

१—मौर्य साम्राज्य का इतिहास पृ० ११८।

लिये पृथ्वी, आकाश एक करदे, किन्तु एक न एक दिन केवल सङ्गठन—राजनीतिकएकता—के अभाव के कारण वह देश-जाति पराधीनता-पापपङ्क में अवश्य फँसेगी। पराधीन देश अपने धर्म, सदाचार, मानमर्यादा, संस्कृति-सभ्यता आदि से कितना गिर जाता है, यह सब उन्हें भासित होने लगा[1]। सङ्गठन ही संसार में आत्म-रक्षा, धन-रक्षा, कुल-प्रतिष्ठा आदि की रक्षा का एक अमोघ अस्त्र है[2] यह उस

१—पतित वहै, नास्तिक वहै, रोगी वहै मलीन।
हीन, दीन, दुर्बल वहै, जो जग अहै अधीन॥
पर-भाषा, पर-भाव, पर-भूषन, पर-परिधान।
पराधीन जनकी अहै, यह पूरी पहिचान॥
दम्भ दिखावत धर्म कौ, जो अधीन मति-अन्ध।
पराधीन अरु धर्म कौ, कहो कहा सम्बन्ध ?॥
मरनु भलो निज धर्म में, भय-दायक पर-धर्म।
पराधीन जाने कहा, यह निज पर कौ मर्म॥

—श्री वियोगी हरि।

२—विश्व को प्यारा है वह, प्यारा है जिसको संगठन।
क़ौम की क़िस्मत का है, ऊँचा सितारा संगठन॥
निर्धनों का धन है, निर्बल का है बल, निर्गुण का गुण,
बेकसों का बस है, बेचारों का चारा संगठन॥
तीर्थ की पदवी से हो जाती है पदवी तीर्थ-राज।

समय भारत-वासियों को सूझ पड़ा जब वे यूनानी वीर-विजेता सिकन्दर द्वारा पददलित कर दिये गये। अब उन्हें प्रतीत होने लगा कि भारत में भी पारस्परिक राजनैतिक सङ्गठन हो, छोटे मोटे राज्यों के स्थान पर एक विशाल राज्य हो, तो वह न केवल देश की स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा की रक्षा कर सकेगा अपितु विदेशियों के सामने देश व जाति के गौरव को बढ़ाने में भी कृतकार्य होगा।

"बस ये दो प्रवाह—धार्मिक और राजनैतिक—जनता के हृदय को दोलायित कर रहे थे। सभी धार्मिक उदारता, कर्मकाण्ड के यन्त्रवत् शुष्क आडम्बर से छुटकारा और जातीय एकता चाहते थे। आवश्यकता एक ऐसे नेता की थी जो अग्रसर होने के लिये प्रस्तुत हो" इन्हीं दुर्दिनों में मौर्य चन्द्रगुप्त ने—जिसके अभी दूध के दान्त टूट पाये थे, रेखें भीग रही थीं, रग रग से बचपन टपकता था—केवल २२ वर्ष की अवस्था में अपने देश वासियों का नेतृत्व स्वीकार

करती जब गङ्गा से जमुनाजी की धारा सङ्गठन ॥
सङ्गठन के संग-ठन जाती है जिस इन्सान की।
उसका कर देता है दुनियां से किनारा संगठन ॥
इन्द्रियों का संगठन रखता है जैसे जिस्म को।
त्यों ही रक्खेगा हमें, प्यारा हमारा संगठन ॥

—श्री राधेश्याम कविरत्न।

किया और इस योग्यता से विद्रोहियों पर शासन किया कि संसार में ऐसी अद्भुत मिसाल मिलना कठिन है।

चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण

प्रसिद्ध ऐतिहासिक मि० हैवेल ने इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है:—

"सिकन्दर के भारत से लौटने के एक साल बाद विजित प्रदेशों में विद्रोह प्रारम्भ हुआ। प्रसिद्ध विश्वविद्यालय तक्षशिला इस विद्रोह का केन्द्र था। यहाँ चाणक्य नाम का एक ब्राह्मण रहता था; जो कि दण्डनीति, कूटविद्या और सैन्यशास्त्र में पारंगत था। उसकी असाधारण योग्यता सब लोगों को ज्ञात थी। उसका चन्द्रगुप्त नामक एक शिष्य था।.........मैसिडोनियन-आक्रमण के समय चन्द्रगुप्त तक्षशिला में ही था। सम्भवतः चन्द्रगुप्त ने ही सिकन्दर को मगध पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया था। परन्तु व्यास नदी के तट पर अपनी यूरोपियन सेना के विद्रोह कर देने के कारण वह और आगे न बढ़ सका। सिकन्दर के किसी क्षत्रप ने राजा पोरस का घात कर दिया था, यद्यपि पोरस सिकन्दर की अधीनता स्वीकृत करता था। इस हत्या के कारण भारतीय जनता में बहुत असन्तोष फैल रहा था। एक दूसरे प्रान्त के क्षत्रप फिलिप्पोस का भी घात कर दिया गया और क्रान्ति होने के लिये विद्रोहियों को केवल एक योग्य नेता की आवश्यकता थी। चन्द्रगुप्त ने इन घृणित

यूनानी लोगों को निकालकर बाहर करने और मगध-राज्य का बदला लेने के लिये इस सुवर्ण अवसर को हाथ से न जाने दिया। चाणक्य की सहायता से उसने पंजाब की जातियों को भड़का दिया और सिकन्दर की सेनाओं को पराजित कर उसी सेना की सहायता से पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। मगध के राजा को गद्दी से च्युत कर, व ग्रीक लेखकों के मतानुसार मारकर वह राजगद्दी पर बैठा।"

"मि० हैवेल के उपर्युक्त उद्धरण की पुष्टि ग्रीक-लेखकों के लेखों से होती है। जस्टिन कहता है:—इस राजकुमार ने ढिठाई के साथ सिकन्दर से बातचीत की अतः इसे मृत्युदण्ड को आज्ञा हुई। पर इसने भाग कर अपने प्राण बचाये।' प्लूटार्क का कहना है—जब चन्द्रगुप्त घर से निकला हुआ था उसने सिकन्दर से बातचीत की। इस प्रकार स्पष्ट है कि मौर्य चन्द्रगुप्त मैसिडोनियन आक्रमण के समय पंजाब में ही मौजूद था और उसकी सिकन्दर से भेंट भी हुई थी। निस्सन्देह चन्द्रगुप्त और चाणक्य इस समय पश्चिमोत्तर सीमा की तरफ से राज्य प्राप्त करने की इच्छा से यहाँ आये हुये थे[१]।"

"आगे चन्द्रगुप्त ने क्या किया इसके लिये भी प्राचीन ग्रीक-लेखकों के लेख देखिये। जस्टिन कहता है—सिकन्दर के सामने चन्द्रगुप्त ने ढिठाई का बर्ताव किया। इससे अप-

१—मौर्यसाम्राज्य का इतिहास पृ० ११८—२०।

मानित होने के कारण सिकन्दर ने चन्द्रगुप्तके वध की आज्ञा दी। परन्तु भागकर चन्द्रगुप्त ने अपने प्राण बचाये। यात्रा से थककर चन्द्रगुप्त लेट गया। इस समय एक भयानक सिंह आया, और चन्द्रगुप्त के पसीने को चाटने लगा। वह चन्द्र-गुप्त को बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचाये लौट गया। इस अपूर्व घटना से चन्द्रगुप्त को बड़ी आशा हुई। वह महत्वाकांक्षी होगया। उसने डाँकुओं के झुण्ड इकट्ठे किये और भारतियों को विद्रोह के लिये खड़ा कर दिया। जिस समय चन्द्रगुप्त सिकन्दर के सेनापतियों के विरुद्ध लड़ाई की तैयारी कर रहा था, एक जंगली हाथी आया और पालतू हाथी के समान चन्द्रगुप्त को अपनी पीठ पर उठा लिया[1]।"

भारतवर्ष छोड़ने के एक वर्ष बाद ई० पू० ३२३ में विश्व-विजयी सिकन्दर बैबिलौन में परलोकवासी हुआ। उसकी मृत्यु से भारतवर्ष से मकदूनिया के राज्य का भी एक तरह से अन्त होगया। चन्द्रगुप्त ने देखा कि जिस देश में मेरा जन्म हुआ है—उसके लिये भी मेरा कोई कर्तव्य है इस डूबती हुई नौका के सम्भालने में इन हाथों की भी आवश्यकता है, अतएव उसने यह समय रण-भेरी बजाने के लिये उचित जान धोंसे पर चोट जमाई। भारतियों ने नींद के खुमार में उस शब्द को सुना और अलकसाते २ उठना शुरू किया। छोटी २ रियासतों और मजहबी दीवानों ने चन्द्रगुप्त के इस

१—मौर्यसाम्राज्य का इतिहास पृ० १२० ।

महान्‌कार्य में कैसी २ विघ्न-बाधाएँ उपस्थित की होंगी; यह सन् १९२४के हिन्दु-संगठन और वर्तमान असहयोग आन्दोलन पर सरसरी दृष्टि डालने से सब कुछ स्पष्ट होजाता है। आपस के जातीय-भेद, मन-मुटाव, धार्मिक-मतभेद और व्यक्तिगत स्वार्थपरता साथ ही "अपनो अपनो रागनी अपना अपना गीत" आजकी भान्ति उस समय भी विद्यमान थे। किन्तु चन्द्रगुप्त ने इन बाधाओं की तनिक भी पर्वाह न की, उसके हृदय में अदम्य उत्साह, स्फूर्ति का स्त्रोता बह रहा था, वह पहाड़ के समान अपने मनसूबों पर दृढ़, काल से निर्भयी और अनेक लोकोत्तर गुणवाला था। एक विशाल देश को संगठित करने और विद्रोहियों का नेत्रत्व करने के लिये जिस वीरता, धीरता, प्रभाव और आत्म-बल की आवश्यकता होनी चाहिये वह सब उसमें विद्यमान थे। चन्द्रगुप्त ने कुछ सैन्य इकट्ठी करके उन यूनानियों के विरुद्ध बलवा किया जिन्हें सिकन्दर पश्चिमोत्तर प्रान्त तथा पंजाब पर शासन स्थिर करने के लिये छोड़ गया था। बलवा करने के बाद चन्द्रगुप्त अपने चतुरमंत्री चाणक्य की सहायता से मगध के नंदवंशीय अन्तिम राजा को हटाकर ई० पू० ३२२ में मगध के राज्य सिंहासन पर बैठा। उस समय मगधराज्य बहुत विस्तृत था, उसमें कोशल (अयोध्या), काशी, अंगदेश (पश्चिमीय बंगाल) तथा मगध (बिहार) ये सब देश शामिल थे। चन्द्रगुप्त पर कुलूत, मलय, काश्मीर, सिन्धु और पारस

इन पाँच देश के राजाओं ने मिलकर हमला किया। जिसका चन्द्रगुप्त ने अत्यन्त वीरता से सामना किया और इन सबको शकिस्त देकर, विदेशी यूनानियोंके विरुद्ध बलवा करके उसने न केवल उत्तरी पंजाब को यूनानियों की पराधीनता से स्वतंत्र कर दिया, बल्कि वह समस्त भारत का एक छत्र-सम्राट् हो गया।

"प्राचीन काल में यह विचार प्रचलित था कि विजित देश के आन्तरिक प्रबन्ध में कोई हस्तक्षेप न करे। प्राचीन ग्रन्थों में जहाँ साम्राज्य और सार्व भौम राज्यों का वर्णन आता है वहाँ अन्य राजों के वर्णन की कमी नहीं है। इस प्रागैतिहासिक कहे जाने वाले काल में सम्राट् अवश्य होते थे, पर सम्राट् शब्द से अन्य राजाओं का स्वामी यही अर्थ होता था। परन्तु चन्द्रचुप्त मौर्य ने जिस राज्य की स्थापना की, उसमें अन्य राजाओं से केवल प्रभुत्त्व ही स्वीकार नहीं कराया था, अपितु चन्द्रगुप्त का सारे भारत पर एक छत्र-राज्य था। इसमें अधीन राजाओं की सत्ता न थी। इस विस्तृत देश को प्रान्तों में विभक्त कर अपने प्रान्तीय शासकों द्वारा चन्द्रगुप्त ने और उसके वंशजों ने शासित किया था! मौर्य-साम्राज्य की यही विशेपता है।"

सेल्युकस का आक्रमण

"जिस समय चन्द्रगुप्त अपने साम्राज्य के संगठन में लगा हुआ था, उसी समय उसका एक प्रतिद्वन्दो पश्चिमी और

मध्य एशिया में अपने साम्राज्य की नींव डालने का यत्न कर रहा था और सिकन्दर के जीते हुये भारतीय प्रदेशों को अपने अधिकार में लाने की तैयारी में था। सिकन्दर की मृत्यु के वाद उसके सेनापतियों में राज्याधिकार के लिये युद्ध हुआ इस युद्ध में एशिया के आधिपत्य के लिये एण्टिगोनस और सेल्युकस नाम के दो सेनापति एक दूसरे का विरोध कर रहे थे। पहले तो एण्टिगोनस ने सेल्युकस को हरा कर भगा दिया, पर ई० पू० ३१२ में सेल्युकस ने वैविलोन को फिर से अपने अधिकार में कर लिया, और छह वर्ष के वाद वह पश्चिमी तथा मध्य एशिया का अधिपति हो गया। उसके पश्चिमी प्रान्त भारतवर्ष की सीमा तक फैले हुये थे; और इसी लिये वह सिकन्दर के जीते हुए भारतीय प्रदेशों को फिर से अपने अधिकार में लाना चाहता था।"

"इसी उद्देश्य से उसने ई० पू० ३०५ में या उसके लग भग सिन्धु नदी पार करके सिकन्दर के धावे का अनुकरण करने का उद्योग किया। जव युद्ध-भूमि में दोनों सेनाओं का सामना हुआ, तव चन्द्रगुप्त की सेना के मुक़ाविले में सेल्यु-कस की सेना न ठहर सकी। सेल्युकस को लाचार होकर पीछे हटना पड़ा और चन्द्रगुप्त के साथ उसी की शर्तों के मुताविक़ सन्धि कर लेनी पड़ी। उलटे उसे लेने के देने पड़ गए। भारतवर्ष को जीतना तो दूर रहा उसे सिन्धुनदी के पश्चिम एरियाना का वहुत सा हिस्सा चन्द्रगुप्त के लिये देना

पड़ा। पाँचसौ हाथियों के बदले में चन्द्रगुप्त को सेल्युकस से परोपनिसदै, एरिया और अरचोजिया नाम के तीन प्रान्त मिले, जिनकी राजधानी क्रम से आज कल के काबुल, हिरात और कन्धार नाम के तीन नगर थे। इस सन्धि को दृढ़ करने लिये सेल्युकस ने अपनी बेटी एथीना, चन्द्रगुप्त को दी। यह सन्धि ई० पू० ३०३ के लगभग हुई। इस प्रकार हिन्दुकुश पहाड़ तक उत्तरी भारत चन्द्रगुप्त के हाथ में आगया। उन दिनों भारत वर्ष की पश्चिमोत्तर सीमा हिन्दु-कुश पहाड़ तक थी। मुगलबादशाहों का राज्य भी हिन्दूकुश तक कभी नहीं पहुँचा था[1]।"

चन्द्रगुप्त का जीवन वृतान्त

जिस वीर-चूड़ामणि ने अनेक राष्ट्रों में बटे हुये छिन्न-भिन्न भारत को एक करके एकछत्रसाम्राज्य की स्थापना की, विदेशियों को बाहर खदेड़ कर भारतियों को पराधीनता से मुक्त करने का पुण्य संचय किया और जिस वीर-केसरी ने विश्वविजयी सिकन्दर के सेनापति सेल्युकस की युवती कन्या से शादी करके सदा के लिए यूनानियों को लज्जित कर दिया, जिससे कि फिर कभी भारत पर आक्रमण करने का उन्हें साहस न हुआ। उसी अतुल वैभवशाली महान् पराक्रमी भारत-भाग्य-विधाता मौर्यसाम्राज्य-संस्थापक, राजर्षि चन्द्रगुप्त का संसार के अनेक प्रसिद्ध २ विद्वानों ने गुणगान किया है। संसार के

१—बौद्ध कालीन भारत पृ० १३।

इसी महापुरुष के जन्मवृतान्त के सम्बन्ध में अभीतक मत-भेद चला आता है। किन्तु श्री सत्यकेतु विद्यालङ्कार, प्रोफेसर इतिहास, गुरुकुल-विश्वविद्यालय, काङ्गड़ी ने अनेक ग्रन्थों को मथन करके जो स्पष्टीकरण किया है वही वास्तविक और युक्ति-युक्त प्रतीत होता है, और अधिकांश विद्वानों का झुकाव भी इसी ओर है, इसलिये वही यहाँ उद्धृत किया जाता है:—

"चन्द्रगुप्त का जन्मवृतान्त सबसे प्राचीन महावंश के प्रसिद्ध टीकाकार इस प्रकार लिखते हैं:—"जब बुद्ध भगवान् अभी जीवित थे, विडूडभराजा ने शाक्यों के राष्ट्र पर आक्रमण किया। शाक्य घराने के कुछ व्यक्ति इस आक्रमण से अपना देश छोड़कर हिमवन्त (हिमालय पर्वत) पर आ बसे। वहाँ उन्हें एक अत्यन्त सुन्दर और रमणीय स्थान निवास के लिये मिला। यह स्थान सघन वृक्षों के बीच शुद्ध जल के समीप था। यहाँ बस जाने की उनकी इच्छा हुई। एक प्रदेश पर जहाँ अनेक मार्ग मिलते थे, सम्यक प्रकार से रक्षित नगर बसाया गया। इस नगर के भवनों की रचना मयूर की गर्दन के समान क्रम में बनाई गई थी। मयूरों की केकाध्वनि से यह नगर प्रतिध्वनित रहता था। इसलिये इस नगर का नाम "मयूर नगर" पड़ा। इसी वास्ते इस नगर के निवासी और उनकी सन्तान जम्बूद्वीप में 'मौर्य' कहाती थी। इस समय से इसको मौर्य कहने लगे।........"

"मौर्यों का यह वृतान्त हमें स्वाभाविक प्रतीत होता है। एक दासी—मुरा—के पुत्र होने से चन्द्रगुप्त और सारे वंश का मौर्य कहाया जाना अस्वाभाविक है। महावंश की कल्पना स्वाभाविक और इतिहास के अनुकूल है। यह मत ग्रीक लेखकों के आधार से भी पुष्ट होता है। कनिङ्घम साहब ने रायलएशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में यह बात स्पष्ट की है[१]।"

यूनानी लेखकों, बौद्ध-साहित्य और जैनग्रन्थों[२] से भी

१—मौर्य-साम्राज्य का इतिहास पृ० १०७-८।

२ चन्द्रगुप्त के नाम-संस्करण के सम्बन्ध में प्रसिद्ध जैन-ग्रन्थ परिशिष्ट पर्व में निम्न उल्लेख मिलता है:—

"अब चाणक्य राजगद्दी के योग्य मनुष्य की खोज में फिरने लगा। जिस गाँव में राजा नन्द के मयूर-पोपक लोग रहते थे, एकदिन चाणक्य परिव्राजक-वेश धारण करके भिक्षा के लिये उसी गाँव में चला गया। मयूर-पोपकों का जो सर्दार था उसकी एक लड़की गर्भवती थी अतएव उसे यह दोहदा (दोहला) उत्पन्न हुआ कि मैं चन्द्रमा को पी जाऊँ, परन्तु इस दोहले को पूर्ण करने के लिये कोई समर्थ न हुआ। इसी समय परिव्राजक-वेष में यहां पर चाणक्य आ पहुँचा। मयूर-पोपकों ने यानि उस गर्भवती कन्या के कुटुम्बियों ने चाणक्य से यह सब हाल कह सुनाया। चाणक्य बोला—"भाई यह दोहला तो पूर्ण करना बड़ा दुष्कर है तथापि तुम लोग मेरा कहना स्वीकार करो तो मैं इस दुष्कर

मौर्यवंशी शुद्ध क्षत्रिय सिद्ध होते हैं। केवल ब्राह्मण-ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त को दासी-पुत्र लिखा है। इस से प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त के वेद-विरोधी अर्थात् वैदिकधर्मानुयाई न होने के कारण द्वेश से उसे नीचा दिखाने के लिये किसी ने 'मुराना-इन से उत्पन्न होने के कारण मौर्य कहलाये' यह कथा गढ़ दी होगी।

दोहले को पूर्ण कर सकता हूँ।" मयूर-पोषकों ने कहा—'महाराज! हमें आपकी आज्ञा स्वीकार है अब आप इस कन्या के प्राण बचावें' चाणक्य बोला—"इस देवी के जो गर्भ है उसे उत्पन्न होते ही तुम मुझे दे दो तो मैं इसकी इच्छा अभी पूर्ण करदूं, अन्यथा दोहला पूर्ण न होने से इसके गर्भ का भी विनाश होगा और इस देवी की भी ख़ैर नहीं। मयूर-पोषकों ने चाणक्य की बात स्वीकार करली। तब चाणक्य ने वहाँ पर सूखे हुये घास का एक मण्डप बनवाया और उस मण्डप के बीच में एक छिद्र रख दिया। पूर्णमा की मध्यरात्रि के समय जब चन्द्रमा उस मण्डप के ऊपर चढ़ गया और मण्डप के बीच में उसका प्रतिबिम्ब पड़ने लगा, तब चाणक्य ने एक आदमी को सिखाकर उस मण्डप के ऊपर चढ़ा दिया। चाणक्य ने मण्डप के अन्दर जहाँ पर चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता था, वहाँ पर दूध से भरकर एक थाली रखदी, जब बराबर पूर्णतया चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब उस दूध की थाली में पड़ने लगा तब चाणक्य ने उस गर्भवती देवी को बुलवा कर उसे चन्द्रमा से प्रतिबिम्बित उस दूध की थाली को दिखाया। उस

"महावंश की कथानुसार विडूडभ या उसके उत्तराधिकारी किसी साम्राज्यवादी राजा ने यहाँ भी इस मयूर नगर में रहने के कारण मौर्य कहलाने वाले शाक्यों का पीछा न छोड़ा। वहाँ भी मौर्यों पर आक्रमण किया और मौर्यों को पराजित कर राजा व (राजाओं) घात किया।……अनाथ रानी अपने भाइयों के साथ भागकर पाटलिपुत्र में आई,

---

समय दूध की थाली में चन्द्रमा का प्रतिविम्ब साक्षात् चन्द्रमा के समान प्रतीत होता था। चाणक्य ने उस देवी को पीने की अनुमति देदी। वह बड़े चाव से उस थाली से मुँह लगाकर पीने लगी। जैसे २ वह थाली के दूध को पीती गई तैसे २ चाणक्य के संकेत करने पर मण्डप पर चढ़ा हुआ मनुष्य मण्डप के छिद्र को ऐसी खूबी से आच्छादित करता रहा कि दूध की थाली में चन्द्रमा का प्रतिविम्ब भी दूध के साथ-साथ घटता हुआ मालूम होने लगा। जिससे की उस गर्भवती देवीको साक्षात् चन्द्रमा पीने का विश्वास हो गया। इस प्रकार चाणक्य ने अपनी चतुरता से दोहला पूर्ण कराया। इधर दोहला पूर्ण होने पर नवमास-बाद उस देवी की कूख से चन्द्रमा के समान सौम्यता को धारण करने वाला और सूर्य के समान तेजस्वी पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। उसकी माता को चन्द्रमा का पान करने का दोहला उत्पन्न हुआ था इसीलिये उस बालक का नाम "चन्द्रगुप्त" रक्खा गया। [भाग २ रा पृ० ७१-७२]

और गर्भ होने के कारण वहीं चन्द्रगुप्त की उत्पत्ति हुई[१]।"

नहीं मालूम ऐसे होनहार सुकुमार वीर-बालकों का जन्म प्राय: संकटावस्था में क्यों होता है ? प्रकृति का यह कठोर नियम क्यों है ? चन्द्रगुप्त के समान हनुमान, लव, कुश भी भयानक वनों में उत्पन्न हुये थे, बजाय नर्म २ थपकियों के आपत्तियों के तीव्र थपेड़े सहन किये थे, लोरियों की जगह हिंसक पशुओं की चीत्कार सुनी थी। मालूम होता है प्रकृति जिनसे कुछ संसार का कल्याण कराना चाहती है, उन्हें प्रथम वह आपत्तियों की भट्टी में तपाकर, कष्टों की कसौटी पर कसकर खराखोटा जाँच लेती है तब कहीं ऊँचा उठाती है। जो संसार में वीर बनकर आते हैं उनके निकट संसार की निष्ठुरता भी फीकी पड़ जाती है। राज्य-हीन और पितृ-हीन बालक चन्द्रगुप्त निस्सहाय होने के कारण कुछ बड़ा होने पर पशु चराकर अपना और विधवा माता का उदर-पालन करने लगा। एक राजकुमार होते हुए भी उसे यह दुर्दिन देखने पड़े, यह सब भाग्य की बात है। अन्यथा जो बनकर बिगड़ जाते हैं, न्यामतेदुनिया खिलाने वाले जब दर-दर पै दाने-दाने के लिये मोहताज हो जाते हैं; चादरे-गुल पर कठिनता से नींद आनेवाले सुकुमार बालकों को

१—मौर्यसाम्राज्य का इतिहास पृ० १०६।

जब सिरहाने रखने के लिये ईंट भी नहीं मिलती[1]। ऐसा आपत्तियों को जो सहन करते हैं, उनके सिवा इस दुख को और कौन अनुभव कर सकता है? चन्द्रगुप्त इस समय अनाथ था, विवश था, चरवाहा था, फिर भी "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" के सुलभ लक्षण उसमें फूट रहे थे। बचपन की एक घटना महावंश के टीकाकार इस प्रकार लिखते हैं:—

"एक बार की बात है, जब कि चन्द्रगुप्त अन्य लड़कों के साथ पशु चरा रहा था, उन्होंने एक खेल खेलना शुरू किया। इस खेल को "राजकीयखेल" कहते थे। वह स्वयं राजा बना। अन्यों को उसने उपराजा आदि के पद दिये। कुछ को न्यायाधीश बनाया गया। कइयों को राजा के गृह का अधिकारी बनाया। कई चोर और डाँकू बनाये गये। इस प्रकार सब कुछ निश्चित करके वह न्याय के लिये बैठ गया। गवाहियाँ सुनी गईं। दोनों तरफ से युक्तियाँ अत्युक्तियाँ पेश की गईं। जब देखा कि दोष अच्छी तरह सिद्ध

१—न्यामते दुनियाँ खिलाते थे जो औरों को कभी।
दर-बदर फिरते हैं अब वह दाने दाने के लिये॥
चादरे गुल पै जिन्हें मुश्किल से कल आती थी नींद
ढूंढ़ते हैं ईंट वह तकिया लगाने के लिये॥
—"दास"।

हो गया, तब न्यायाधीशों के फ़ैसले के अनुसार, राजा ने कचहरी-आफीसरों को आज्ञा दी कि अभियुक्तों के हाथ-पैर काट डाले जायँ। जब उन्होंने कहा—"देव हमारे पास कुल्हाड़े नहीं हैं, तब उसने उत्तर दिया—'यह राजा चन्द्रगुप्त की आज्ञा है कि इनके हाथपैर काट डाले जाँय। यदि तुम्हारे पास कुल्हाड़े नहीं हैं तो लकड़ी का डण्डा बनाओ और उसके आगे बकरी के सींग लगाकर कुल्हाड़ा बनालो'। उन्होंने वैसा ही किया। कुल्हाड़ा बन गया तब हाथ-पैर काट डाले गये। चन्द्रगुप्त ने हुक्म दिया 'फिर जुड़ जावें' हाथ-पैर फिर जुड़ गये[१]"।

वास्तव में बचपन के ही संस्कार भविष्य में भाग्य-निर्माता होते हैं। होनहार बालकों की आभा उनके उदय होने के पूर्व ही सूर्य-रेखाओं के समान फैलने लगती हैं। वे इसी अवस्था में खेले हुये खेल—हँसी हँसी में किये गये सङ्कल्प—बड़े होने पर कार्य रूप में परिणित कर दिखाते हैं, एक बार "विलिंगटन" से किसी ने पूछा जब कि वह निरा

१—इस वर्णन को असम्भव नहीं समझना चाहिये। यहाँ लेखक ने अपनी लेखन-चातुरी दिखाई है। बालकों के खेलको बालकों के ही अर्थ में लेना चाहिये। बालक चन्द्रगुप्त की आज्ञा-पालन होनी ही चाहिये थी और हुई भी। बालक बहुत बार अपने खेलों में मारा और जिलाया करते हैं। यह स्वाभाविक वर्णन है। (मौर्यसा० का० इ० पृ० १०१-२)।

बालक था कि "ये टाइमपीस क्या कहती है ?" अबोध विलिंगटन ने उत्तर दिया कि 'क्लोक सेज दी टन, टन, टन ऐण्ड विलिंगटन वुड भी दी लार्ड औफ़ लण्डन" (घड़ी कहती है टन, टन, टन और लण्डन का लार्ड बनेगा विलिंगटन) यह भविष्यवाणी सत्य निकली। बालकों के हथियारों की अड़चन डालने पर बालक चन्द्रगुप्त का यह कहना कि "यह राजा चन्द्रगुप्त की आज्ञा है" कितना उत्तेजक, आज्ञाकारक, आत्मविश्वासक तथा मनोबल को प्रकट करने वाला है। चन्द्रगुप्त ने खेल खेल में बतला दिया कि 'संसार को चन्द्रगुप्त की आज्ञा उलङ्घन करने का साहस न होगा। वह अत्याचारियों का संहारक और अपने पाँव पर खड़ा होने वाला असम्भव को सम्भव कर दिखाने वाला स्वावलम्बी वीर होगा। अबोधशिशु चन्द्रगुप्त के इस चमत्कारिक प्रभावोत्पादक क्रीड़ा को उसके बाल्य-सखा क्या खाक समझ सकते थे। स्वयं चन्द्रगुप्त भी कस्तूरीवाले हिरन की भांति अपने जौहर से अनभिज्ञ था, सिंहनी का बच्चा भेड़ बकरियों में खेल रहा था।

ऐसी ही एक मिलती-झुलती चन्द्रगुप्त की बाल्य-क्रीड़ा का उल्लेख श्री हेमचन्द्राचार्य्य ने अपने परिशिष्ट पर्व में किया है यथा:—"चन्द्रगुप्त अपने पड़ौस के लड़कों के साथ गाँवसे बाहर जाकर क्रीड़ाएँ करता। किसी लड़के को हाथी, किसी को घोड़ा बनाता और उनके ऊपर स्वयं चढ़कर

राजा बनकर अन्य लड़कों को शिक्षा देता तथा राजा के समान प्रसन्न होकर किसी को गाँव आदि इनाम में देता। एक दिन उन बालकों के क्रीड़ा करते समय कहीं से भ्रमण करता हुआ चाणक्य आ निकला। चन्द्रगुप्त की उक्त चेष्टाएँ देखकर उसे अत्यन्त आश्चर्य्य हुआ, वह परीक्षा लेने के तौर पर बोला—"महाराज! कुछ मुझ ग़रीब ब्राह्मण को भी देना चाहिये।"

चन्द्रगुप्त ने बाल्य-सुलभ किन्तु वीरोचित शब्दों में कहाः—"ब्रह्मदेव! ये गाँव की गायें चर रही हैं इनमें से जितनी तुझे आवश्यक हो ले जा, मैं तुझे सहर्ष देता हूँ।"

चाणक्य मुस्कराकर बोलाः—"गायें कैसे ले जाऊँ? इनके स्वामियों से भय लगता है वे मारेंगे तो?"

बालक चन्द्रगुप्त ने सगर्व उत्तर दिया—मैं तुझे सहर्ष दान कर रहा हूँ निर्भय होकर इन्हें गृहण कर, मेरे होते हुए तुझे भय कैसा? क्या नहीं जानता? 'वीरभोग्या-वसुन्धरा'?

इस प्रकार उस बालक का धैर्य देखकर चाणक्य विस्मित होकर दूसरे बालकों से पूछने लगा कि यह किसका पुत्र-रत्न है? लड़कों ने उत्तर दिया, महाराज! यह तो एक परिव्राजक का पुत्र है क्योंकि इसके नाना ने जब यह गर्भ में ही था तब से ही इसे एक परिव्राजक को दे दिया है।" चाणक्य यह उत्तर सुनकर समझ गया कि यह तो वही बालक है

जिसके गर्भ का मैंने दोहलापूर्ण किया था। चाणक्य बोला "अरे भाई! जिस परिव्राजक को तेरे माता पिता ने तुझे समर्पण कर दिया है वह परिव्राजक मैं ही हूँ; और राजाओं की तू यह नक़ल क्या करता है! चल मेरे साथ मैं तुझे असली राज्य देकर राजा बनाऊँ।" राज्य लेने की इच्छा से चन्द्रगुप्त भी चाणक्य की अँगुली पकड़कर उसके साथ चल पड़ा[1]"।

चाणक्य अबोध चन्द्रगुप्त के साथ उसके घर गया और कुछ भेट देकर कहा:—"मैं तुम्हारे पुत्र को सब कुछ सिखाऊँगा, उसे मेरे साथ कर दो।" तदनुसार चाणक्य चन्द्रगुप्त को अपने साथ ले गया, और उसे बहुत शीघ्र युद्ध-विद्या में निपुण कर दिया, जब चन्द्रगुप्त सैन्य-संचालन योग्य होगया, तो चाणक्य ने जो रसायन सिद्धि-द्वारा द्रव्य प्राप्त किया था, उस धन से कुछ सैन्य इकट्ठी की गई, और वह चन्द्रगुप्त के नेत्रत्व में विजय-यात्रा को निकली। साहस तो महान् था किन्तु मुट्ठीभर अशक्षित सैनिक सबल राष्ट्रों के समक्ष क्या खाकर ठहरते? अन्त में युद्ध-क्षेत्र का परित्याग करना ही चाणक्य की सम्मति से उचित समझा गया और अब चन्द्रगुप्त और चाणक्य गुप्त भेष में भ्रमण करने लगे। अनेक बार शत्रुओं के गुप्तचरों से बच निकलने का श्रीहेमचन्द्राचार्य्य ने परिशिष्ट पर्व में मनोरञ्जक उल्लेख किया है किन्तु यहाँ विस्तार-भय से उसे छोड़ा जाता है।

१—परिशिष्ट पर्व भाग दूसरा पृ० ७३।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त जब गुप्त-वेष में भ्रमण कर रहे थे तब एक रोज़ अकस्मात किसी गाँव में एक बुढ़िया के घर जा पहुँचे। बुढ़िया ने उस समय खिचड़ी पकाई हुई थी और गरम-गरम थाली में, निकाल कर अपने बच्चों को दे रही थी, उसके एक लड़के ने कुछ अधिक भूखा और उतावला होने के कारण—जल्दी खाने के लिये खिचड़ी के बीच में हाथ मारा, खिचड़ी बहुत गरम थी, इसलिये उसका हाथ जल गया और हाथ जलने से लड़का फुप्पा मारकर रोने लगा। लड़के की यह चेष्टा देखकर बुढ़िया बोली—"अरे मूर्ख! तू भी चन्द्रगुप्त के समान अबोध ही रहा।"

अपना नाम सुनकर चन्द्रगुप्त और चणक्य उस बुढ़िया के समीप चले गये, और पूछा—मैया! यह चन्द्रगुप्त कौन है? और इस लड़के के हाथ जलने पर उसके दृष्टान्त से तुम्हारा क्या प्रयोजन है?" बुढ़िया बोली! चन्द्रगुप्त भी एक राजपूत है जो सम्राट् बनने की अभिलाषा रखता था, उसने सीमाप्रान्तके विजय किये वग़ैर ही मुख्य राजधानी पर आक्रमण कर दिया, इसीसे लोग उसके विरुद्ध उठ खड़े हुये और सीमाप्रान्तों से आक्रमण करके उसको बीचमें घेर लिया वग़ैर सीमाप्रान्तों के विजय किये राजधानी पर—बीच के शहरों पर—आक्रमण कर देना, यही उसकी मूर्खता थी, इसी तरह इस लड़केने भी आस पास की ठंडी खिचड़ी छोड़कर गरमागरम खिचड़ी में हाथ मारा तभी इसका हाथ जलगया।

बुढ़िया की भेद-भरी बातों से चाणक्य और चन्द्रगुप्त की आँखें खुलीं वे मन-ही-मनमें उस बुढ़िया को प्रणाम करके वहाँ से रवाना हुये और बहुत शीघ्र एक विशाल सैन्य-संगठित करके अब की बार उन्होंने सीमाप्रान्त को आधीन किया और वहाँ से ग्रामों और नगरों को विजित करते हुये उनके स्वामियों को अपने पक्ष में लेते हुए धीरे-धीरे पाटलिपुत्र तक बढ़ आये और राजा नन्द (जो उस समय का सबसे बलशाली नरेश था)—पर आक्रमण कर दिया। राजा नन्द को चन्द्रगुप्त के रण-कौशल के सामने अपने घुटने टेकने पड़े और जब वह चारों ओर से हताश होगया तब चुपचाप चन्द्रगुप्त और चाणक्य की स्वीकृति से राज्य-छोड़कर कहीं चला गया। जाते समय राजा नन्द की एक युवती कन्या चन्द्रगुप्त पर आसक्त होगई थी, अतएव उसे चन्द्रगुप्त को वरण करने की सहर्ष अनुमति राजा नन्द ने दे दी ऐसा भी परिशिष्टपर्व में उल्लेख मिलता है।

संक्षेप में यही चन्द्रगुप्त का जीवन-वृतान्त है! मगध-का राज्य प्राप्त कर लेने पर चन्द्रगुप्त ने यूनानी आक्रमण-कर्ता सेल्युकस को कैसी गहरी हार दी, फिर काबुल, कन्धार, हिरात जैसे प्रदेश लेकर और उसकी कन्या व्याह कर सन्धि करली यह सब पूर्व ही उल्लखित किया जा चुका है।

मेगास्थनीज़ का वर्णन

"सन्धि हो जाने के बाद सेल्युकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में अपना एक राजदूत भेजा। इस राजदूत का नाम "मेगास्थनीज" था। मेगास्थनीज मौर्य-साम्राज्य-की राजधानी पाटलिपुत्र में बहुत दिनों तक रहा और वहाँ रहकर उसने भारतवर्ष का विवरण लिखा। इस विवरण में उसने वहाँ के भूगोल, पैदावार, रीति-रिवाज इत्यादि का बहुत सा हाल दिया है। उसने चन्द्रगुप्त के शासन और सैनिक प्रवन्ध का भी बड़ा सजीव वर्णन लिखा है जिससे चन्द्रगुप्त के समय का बहुत सा सच्चा इतिहास मालूम हो जाता है।

चन्द्रगुप्त की राजधानी—अर्थात् पाटलिपुत्र नगर सोन और गङ्गा नदियों के सङ्गम पर बसा हुआ था। आज कल इसके स्थान पर पटना और बांकीपुर नाम के शहर बसे हुये हैं। प्राचीन पाटलिपुत्र भी आजकल की तरह लम्बा बसा हुआ था उसकी लम्बाई उन दिनों ९ मील और चौड़ाई १॥ मील थी उसके चारों ओर काठ की बनी हुई एक दीवार थी, जिसमें ६४ फाटक और ५७० बुर्ज थे। दीवार के चारों ओर एक गहरी परिखा या खाई थी, जिसमें सोन नदी का पानी भरा रहता था। राजधानी में चन्द्रगुप्त के महल अधिकतर काठ के बने हुये थे, पर तड़क भड़क और शान शौकत में वे फ़ारस के राजाओं के महलों से भी बढ़कर थे।

चन्द्रगुप्त का दरबार—बहुमूल्य वस्तुओं से सुसज्जित था। वहाँ रक्खे हुए सोने चाँदी के बर्तन और खिलौने जड़ाऊ मेज़ और कुर्सियाँ तथा कीनखाब के कपड़े देखने वालों की आंख में चकाचौंध पैदा करते थे। जब कभी कभी चन्द्रगुप्त बड़े बड़े अवसरों पर राजमहल के बाहर निकलता था तो वह सोने की पालकी पर चढ़ता था। उसकी पालकी मोती की मालाओं से सजो रहती थी। जब उसे थोड़ी ही दूर जाना होता था तो वह घोड़े पर चढ़कर जाता था, पर लम्बे सफ़र में वह सुनहरी झूलों से सजे हुये हाथी पर चढ़ता था। जिस तरह आजकल बहुत से राजाओं और नवाबों के दरबार में मुर्गी, बटेर; मेढ़े और साँड वग़ैरह की लड़ाई में दिलचस्पी ली जाती है, उसी तरह चन्द्रगुप्त भी जानवरों की लड़ाई से अपना मनोरञ्जन करता था। पहलवानों के दङ्गल भी उसके दरबार में होते थे। जिस तरह आजकल घोड़ों की दौड़ होती है और उसमें हज़ारों की बाज़ी लग जाती है उसी तरह चन्द्रगुप्त के समय में भी बैल दौड़ाये जाते थे और वह उस दौड़ को बड़ी रुचि से देखता था। आजकल की तरह उस समय भी लोग दौड़ में बाज़ी लगाते थे। दौड़ने की जगह हज़ार गज़ के घेरे में रहती थो और एक घोड़ा तथा उसके इधर उधर दो बैल एक रथ को लेकर दौड़ते थे[1]...... ...."।

1 अशोक के धर्मलेख पृ० ११-१२

चन्द्रगुप्त की शासन-पद्धति

मगास्थनीज़ तथा कौटिलीय-अर्थशास्त्र से चन्द्रगुप्त मौर्य कीं सैनिक-व्यवस्था और शासन-पद्धति का जो पता लगता है उसे अत्यन्त संक्षेप में श्रीयुत जनार्दन भट्ट एम० ए० ने "अशोक के धर्मलेख" नामक पुस्तक के तृतीय अध्याय में दिया है। उसे यहाँ पाठकों के अवलोकनार्थ उद्धृत किया जाता है:—

सैनिक व्यवस्था—चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना प्राचीन प्रथा के अनुसार चतुरंगणी थी, किन्तु उस में जल सेना की एक विशेषता थी। चन्द्रगुप्त की सेना में हाथी ९०००, रथ ८०००, घोड़े ३००००, और पैदल सिपाही ६०००००, थे। हरएक रथ पर सारथी के अलावा दो धनुर्धर और हर हाथी पर महावत को छोड़कर तीन धनुर्धर बैठते थे। इस तरह कुल सैनिकों की संख्या ६०००००० पैदल, ३००००, घुड़सवार ३६००० गजारोही और २४००० रथी, अर्थात् कुल मिलाकर ६९०००० थी। इन सबों को राजखजाने से वेतन नियमित रूप से मिला करता था।

सैनिक मण्डल—सेना का शासन एक मण्डल के अधीन था। इस मण्डल में ३० सभासद थे, जो ६ विभाग में विभक्त थे। प्रत्येक विभाग में पाँच सभासद होते थे। प्रथम विभाग जलसेनापति के सहयोग से जलसेन का

शासन करता था। द्वितीय विभाग के अधिकार में सैन्य-सामग्री और रसद वगैरह रहता था। रणवाद्य बजाने वाले, साइस, घसियारे आदि का प्रबन्ध भी इसी विभाग से होता था। तृतीय विभाग पैदल सेना का शासन करता था। चतुर्थ विभाग के अधिकार में सवारसेना का प्रबन्ध था। पंचम विभाग रथसेना की देखभाल करता था और षष्ठ विभाग हस्तिसेन्य का प्रन्वध करता था। चतुरंगणी सेना तो बहुत प्राचीन काल से ही चली आरही थी। पर **जल-सेना-विभाग और सैन्य-सामग्री-विभाग चन्द्रगुप्त की प्रतिभा के परिणाम् थे।**

सेना की भर्ती—चाणक्य के अनुसार पैदल सेना के सिपाही ६ प्रकार से भर्ती किये जाते थे। यथाः—'मौल' जो बापदादों के समय से राजसेना में भर्ती होते चले आये थे, 'भृत' जो किराये पर लड़ने के लिये भर्ती किये जाते थे, 'श्रेणी' जो सहयोग के सिद्धान्तों पर एक साथ रहने वाली कुछ योद्धा जातियों में से भर्ती किये जाते थे, 'मित्र' जो मित्र देशों में से भर्ती किये जाते थे, 'अमित्र' जो शत्रु देशों में से भर्ती किये जाते थे और 'अटवी' जो जङ्गली जातियों में से भर्ती किये जाते थे।

सेना के अस्त्र-शस्त्र—कौटिलीय अर्थ-शास्त्र में 'स्थिर-यन्त्र' (जो एक ही जगह से चलाये जाँय) 'चलयन्त्र' (जो एक जगह से दूसरी जगह फेंके जा सकें) 'हलमुख'

(जिनका सिर हल की तरह हो) 'धनुष, वाण, खंड, छुर-कल्प' (जो छुरे के समान हो) आदि अनेक अस्त्र-शस्त्रों के नाम मिलते हैं। इनके भी अलग २ बहुत से भेद थे।

दुर्ग या किले—चाणक्य के अनुसार उन दिनों दुर्ग कई प्रकार के होते थे और चारों दिशाओं में बनाये जाते थे निम्न लिखित प्रकार के दुर्गों का पता चलता है:—'औदक' जो द्वीप की तरह चारों ओर पानी से घिरा रहता था। 'पार्वत' जो पर्वत की चट्टानों पर बनाया जाता था। 'धान्वन' जो रेगिस्तान या महा ऊसर ज़मीन में बनाया जाता था। और 'बनदुर्ग' जो जङ्गलों में बनाया जाता था। इनके अलावा बहुत से छोटे छोटे किले गावों के बीचों बीच बनाये जाते थे। जो क़िला ८०० गावों के केन्द्र में बनाया जाता था उसे 'स्थानीय, जो क़िला ४०० गावों के बीचोंबीच बनाया जाता था उसे 'द्रोणमुख', जो क़िला २०० गावों के मध्य में बनाया जाता था उसे 'खार्वटिक' और जो क़िला १०० गावों के केन्द्र में रहता था उसे 'संग्रहण कहते थे।

नगर-शासक-मण्डल—जिस प्रकार सेना का शासन एक सैनिक-मण्डल के अधीन था उसी प्रकार नगर का शासन भी एक दूसरे मण्डल के हाथ में था। यह मण्डल एक प्रकार से आजकल की 'म्यूनिसिपैलिटी' का काम करता था, और सैनिक-मण्डल की तरह ६ विभागों में बटा हुआ था। इस मण्डल में भी ३० सभासद थे और प्रत्येक विभाग

चार सभासदों के अधीन था। इन विभागों का वर्णन मेगा-स्थनीज ने निम्न लिखित प्रकार से किया है:—

प्रथमविभाग का कर्तव्य शिल्पकलाओं, उद्योग-धन्धों और कारीगरों की देखभाल करना था। यह विभाग कारीगरों की मजदूरी की दर भी निश्चित करता था। कारखाने वालों के कच्चे माल की देखभाल का काम भी इसी विभाग का काम था। इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता था कि कहीं वे लोग घटिया या खराब सामान तो काम में नहीं लाते। कारीगर राज्य के विशेष समझे जाते थे। इसलिये जो कोई उनका अङ्ग भङ्ग करके उन्हें निकम्मा बनाता था उसे प्राणदण्ड दिया जाता था।

द्वितीयविभाग का कर्तव्य विदेशियों की देख-रेख करना था। मौर्यसाम्राज्य का विदेशियों से बड़ा घनिष्ठसम्बन्ध था। अनेक विदेशी व्यापार अथवा भ्रमण के लिये इस देश में आते थे। उनका इस विभाग की ओर से उचित निरीक्षण किया जाता था और उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार ठहरने के लिये उन्हें स्थान तथा नौकर चाकर दिये जाते थे। आवश्यकता पड़ने पर वैद्य लोग उनकी चिकित्सा करने के लिये नियुक्त रहते थे। मृत विदेशियों का अन्तिम संस्कार उचित रूप से किया जाता था। मरने के बाद उनकी सम्पत्ति तथा रियासत आदि का प्रबन्ध इसी विभाग की ओर से होता था और उसकी आय उनके उत्तराधिकारियों के पास

भेज दी जाती थी। यह विभाग इस बात का बड़ा अच्छा प्रमाण है कि विक्रम पूर्व तीसरी और चौथी शताब्दि में मौर्य-साम्राज्य का विदेशी राष्ट्रों से लगातार सम्बन्ध था और बहुत से विदेशी व्यापार आदि के सम्बन्ध से भारतवर्ष में आते थे।

तृतीयविभाग का कर्तव्य साम्राज्य के अन्दर जन्म और मृत्यु की संख्या का हिसाब ठीक ठीक नियमानुसार रखना था। जन्म और मृत्यु की संख्या का हिसाब इसलिये रक्खा जाता था कि जिसमें राज्य को इस बात का ठीक ठीक पता रहे कि साम्राज्य की आबादी कितनी बढ़ी या कितनी घटी। जन्म और मृत्यु का लेखा रखने से प्रजा से कर वसूल करने में भी सहूलियत पड़ती थी। यह एक प्रकार का पोल-टैक्स (Poll-Tox) था जो हर एक मनुष्य पर लगाया जाता था **विदेशियों को यह देखकर आश्चर्य होता है कि उस प्राचीन समय में भी एक भारतीय शासक ने अपने साम्राज्य की जन-संख्या जानने का कैसा अच्छा प्रबन्ध कर रक्खा था।** इसके लिये एक अलग विभाग ही खुला हुआ था।

चतुर्थविभाग के अधीन वाणिज्य-व्यवसाय का शासन था। बिक्री की चीजों की दर नियत करना तथा सौदागरों से बटखरों और नापजोखों का यथोचित उपयोग कराना

इस विभाग का काम था। इस विभाग के अधिकारी बड़ी सावधानी से इस बात का निरीक्षण करते थे कि बनिये तथा व्यापारी राजमुद्रांकित बटखरों और मापों का प्रयोग करते हैं या नहीं प्रत्येक व्यापारी को व्यापारी करने के लिये राज्य से लाइसन्स या परवाना लेना पड़ता था और इसके लिये उसे एक प्रकार का कर भी देना पड़ता था। एक से अधिक प्रकार का व्यापार करने के लिये व्यापारी को दूना कर देना पड़ता था।

पंचमविभाग कारखानों और उनमें बनी हुई चीजों की देखभाल करता था। पुरानी और नयी चीज को अलग २ रखने की आज्ञा राज्य की ओर से थी। राज्याज्ञा के बिना पुरानी चीजों का बेचना नियम के विरुद्ध और दण्डनीय समझा जाता था।

शष्टविभाग बिकी हुई वस्तुओं के मूल्य पर दशमांस कर वसूल करता था। जो मनुष्य कर न देकर इस नियम को भङ्ग करता था उसे प्राणदण्ड दिया जाता था।

अपने अपने विभाग के कर्तव्यों के अतिरिक्त सभासदों को एक साथ मिलकर नगर-शासन के सम्बन्ध में सभी आवश्यक काम करने पड़ते थे। हाट, बाट, घाट और मन्दिर आदि सब लोकोपकारी कार्यों और स्थानों का प्रबन्ध इन्हीं लोगों के हाथ में था।

मालूम पड़ता है कि तक्षशिला, उज्जयनि आदि साम्राज्य

के सभी बड़े २ नगरों का शासन भी इसी विधि से होता था।

प्रान्तों का शासन—दूरस्थित प्रान्तों का शासन राज-प्रतिनिधियों के द्वारा होता था। राज-प्रतिनिधि आम-तौर पर राज घराने के लोग हुआ करते थे। उनके अधीन अनेक कर्मचारी होते थे। 'अर्थशास्त्र' के अनुसार प्रत्येक राज्य चार मुख्य प्रान्तों में विभक्त होना चाहिये और प्रत्येक प्रान्त एक एक राजकुमार या 'स्थानिक' नामक शासक के अधीन होना चाहिये। इस बात का पता निश्चित रूप से नहीं है कि चन्द्रगुप्त मौर्य का विस्तृत साम्राज्य कितने प्रान्तों में बटा हुआ था, पर अशोक के लेखों से पता लगता है कि उसका साम्राज्य चार भिन्न २ प्रान्तों में बटा हुआ था। 'तक्षशिला' 'उज्जयनि' 'तोसली' और 'सुवर्णगिरि' नामक चार प्रान्तीय राजधानियों के नाम अशोक के शिला-लेखों में मिलते हैं। 'तक्षशिला' पश्चिमोत्तर प्रान्त की, 'उज्जयनि' मध्यभारत की, 'तोसली' कलिंग प्रान्त की और 'सुवर्णगिरि' दक्षिण प्रान्त की राजधानी थी। ऐसा कहा जाता है कि अशोक अपने पिता के जीवन-काल में तक्षशिला और उज्जैन दोनों जगह प्रान्तिकशासन रह चुका था। राज-प्रतिनिधि या राजकुमार के बाद "रज्जुकों" का ओहदा था जो आजकल के कमिश्नरों के समान थे। उनके नीचे 'युक्त' 'उपयुक्त' 'प्रादेशिक' आदि अनेक कर्मचारी राज्य का काम

नियम पूर्वक चलाते थे। "अर्थशास्त्र" और अशोक के लेखों से पता लगता है कि चन्द्रगुप्त और अपोक की शासन-प्रणाली बहुत ही सुव्यवस्थित और ऊँचे ढंग की थी।

दूरस्थित राजकर्मचारियों की कार्यवाही की सूचना देने और रत्ती २ भर समाचार सम्राट् को भेजने के लिये "प्रतिवेदक" (सम्बाददाता) नियुक्त थे। ये लोग प्रतिदिन हर नगर या ग्राम का सच्चा समाचार राजधानी को भेजा करते थे।

अर्थशास्त्र के अनुसार राज्य-शासन का काम लग भग ३० विभागों में बटा हुआ था। इन विभागों के अध्यक्ष या सुपरिण्टेंडेण्टों का कर्तव्य बहुत ही विस्तार के साथ "अर्थशास्त्र" में दिया गया है। इन विभागों में से मुख्य-मुख्य "गुप्तचर-विभाग", "सैनिक-विभाग", "व्यापार-वाणिज्य विभाग", "नौ-विभाग", "शुल्क-विभाग", (चुङ्गी का महकमा) "आकर-विभाग", (खान का महकमा) "सुरा-विभाग", (आबकारी का महकमा) "कृषि-विभाग", "नहर-विभाग", "पशुरक्षा-विभाग", "चिकित्सा-विभाग", "मनुष्य-गणना-विभाग" आदि थे।

गुप्तचरविभाग—सेना के बाद राज्य की रक्षा गुप्तचरों पर निर्भर थी। अर्थशास्त्र में गुप्तचर-विभाग तथा गुप्तचरों का बड़ा अच्छा वर्णन मिलता है गुप्तचर लोग भिन्न भिन्न भेषों में गुप्तरीति से घूम फिर कर हर एक प्रकार का सभा-

चार राजा को दिया करते थे। वे न केवल साम्राज्य के भीतर बल्कि साम्राज्य के भी बाहर उदासीन तथा शत्रु-राज्यों में जाकर गुप्त बातों का पता लगाया करते थे। जिस तरह "जर्मनी के केसर ने" गुप्तचरों का एक अलग विभाग खोल रक्खा था और उसके द्वारा वह शत्रु-मित्र तथा उदासीन सर्वो का समाचार प्राप्त किया करता था, उसी तरह चन्द्रगुप्त ने भी एक गुप्तचर-संस्था स्थापित की थी और इसी संस्था के द्वारा वह सब बातों का पता लगाया करता था। वेश्याओं से भी गुप्तचर का काम लिया जाता। गुप्तचर लोग "गूढ़ या सांकेतिक" द्वारा गुप्तसंवाद भेजा करते थे जिस तरह जर्मन लोग युद्ध में कबूतरों से चिट्ठीरसा का काम लेते थे उसी तरह चन्द्रगुप्त के गुप्तचर भी कबूतरों के द्वारा खबरें भेजा करते थे।

कृषि-विभाग—राज्य की ओर से एक "सीताध्यक्ष" नामक अफ़सर नियुक्त था जो "कृषि-विभाग" का शासन करता था। उसका पद वही था जो आजकल के "डाइरेक्टर आफ़ एग्रिकल्चर" का है। खेती की भूमि राजा की सम्पत्ति गिनी जाती थी और राजा किसानों से पैदावार का चौथाई भाग करके आम तौर पर वसूल करता था। इस बात का पता नहीं लगता कि लगान का बन्दोबस्त हर साल होता था या कई साल के बाद। किसान लोग सैनिक-सेवा से अलग रक्खे जाते थे।

मेगास्थनीज़ साहब इस बात को देखकर बड़े चकित थे कि जिस समय शत्रु-सेनाएँ घोर संग्राम मचाये रखती थीं उस समय भी खेतिहर लोग शान्ति-पूर्वक अपने खेती के काम में लगे रहते थे।

भारतवर्ष सदा से कृषि-प्रधान देश रहा है। अतएव इस देश के लिये सिंचाइ का प्रश्न हमेशा से बड़े महत्त्व का गिना जाता है। चन्द्रगुप्त के शासनके लिये यह बड़े गौरव-का विषय है कि उसने सिंचाई का एक विभाग ही अलग नियत कर दिया था। इस विभाग पर वह विशेष ध्यान देता था, मेगास्थनीज़ साहबने भी लिखा है कि "भूमिके अधिक तर भाग में सिंचाई होती है और इसी से साल में दो फ़सलें पैदा होती हैं राज्य के कुछ कर्मचारी नदियों का निरीक्षण और भूमि की नाप जोख उसी तरह करते हैं; जिस तरह मिश्र में की जाती है। वे उन गूलों अथवा नालियों की भी देख भाल करते हैं जिनके द्वारा पानी खास नहरों से शाखा नहरों में जाता है, जिसमें कि सब किसानों को समान रूप से नहर का पानी सिंचाई के लिये मिल सके।" मेगास्थनीज का उक्त कथन अर्थशास्त्र से पूरी तरह पुष्ट होजाता है। सिंचाई के बारे में कुछ बातें अर्थशास्त्र में ऐसी भी लिखी हैं जो मेगा-स्थनीज़ के वर्णन में नहीं पाई जातीं। अर्थशास्त्र के अनुसार सिंचाई चार प्रकार से होती थी, यथा (१) "हस्तप्रावर्त्तिम"

अर्थात् हाथ के द्वारा (२) "स्कान्ध प्रावर्त्तिम" अर्थात् कन्धों पर पानी ले जाकर (३) "स्रोतयंत्र प्रावर्त्तिम" अर्थात् यंत्रके द्वारा (४) "नदीसरस्तटाकूपोद्धाटम्"अर्थात् नदियों, तालावों और कूपों के द्वारा, सिंचाई के पानी का महसूल क्रम से पैदावार का पंचमांश, चतुर्थांश और तृतीयांश होता था। अर्थशास्त्र में कुल्या का नाम भी आता है। जिसका अर्थ "कृत्रिमासरित" अथवा नहर है। इससे विदित होता है कि उन दिनों भारतवर्ष में नहरें बनाई जाती थीं। और उनके द्वारा खेत सींचे जाते थे। पानी जमा करने के लिये सेतु या बान्ध भी बान्धे जाते थे और तालाव या कूप इत्यादि की मरम्मत हमेशा हुआ करती थी। इस बात की भरपूर देख-रेख रहती थी कि यथा समय हर एक मनुष्य को आवश्यकतानुसार जल मिलता है या नहीं। जहाँ नदी सरोवर ताल इत्यादि नहीं थे वहाँ राजा की ओर से तालाव वगैरह खुदवाये जाते थे। गिरनार में (जो काठियाबाड़ में है) एक चट्टान पर क्षत्रप रुद्रायम का एक लेख खुदा हुआ है। उससे विदित होता है कि दूरस्थित प्रान्तों में भी सिचाई के प्रश्न पर मौर्यसम्राट् कितना ध्यान देते थे। यह लेख सन् १५० के बाद ही लिखा गया था। इसमें लिखा है कि पुश्यगुप्त वैश्य ने जो चन्द्रगुप्त की ओर से पश्चिमी प्रान्तों का शासक था गिरनार की पहाड़ी पर एक छोटी नदी के एक ओर बान्ध बनवाया जिससे एक झील सी बन गई। इस झील का नाम

'सुदर्शन' रक्खा गया और इससे खेतों की सिंचाई होने लगी। बाद को अशोक ने उसमें से नहरें भी निकलवाईं। नहरें अशोक के प्रतिनिधि राजा "तुपास्फ" की देख भाल में बनवाई गई थी !......मौर्य-सम्राटों की बनवाई हुई झील तथा बान्ध दोनों ४०० वर्ष तक क़ायम रहे। उसके बाद सन् १५० में बड़ा भारी तूफ़ान आने से झील और बान्ध दोनों नष्ट होगये तब शक क्षत्रप रुद्रदामन ने बान्ध को फिर से बनवाया और इस बान्ध तथा झील का संक्षिप्त इतिहास एक शिला लेख में लिख दिया जो गिरनार की चट्टान पर खुदा हुआ है।......

चाणक्य के कथन से यह भी ज्ञात होता है। कि कृषि-विभाग के साथ साथ "अन्तरिक्षविद्या विभाग" (Meteorological Department) भी था। यह विभाग एक प्रकार के यन्त्र के द्वारा इस बात का निश्चय करता था कि कितना पानी बरस चुका है। बादलों की रंगत से भी इस बात का पता लगाया जाता था कि पानी बरसेगा या नहीं और बरसेगा तो कितना। सूर्य, शुक्र और बृहस्पति की स्थिति और चाल से भी यह निश्चय किया जाता था कि कितना पानी बरसने वाला है।

साम्राज्य की सड़कें—सुव्यवस्थित दशा में रक्खी जाती थीं। आध-आध कोस पर पथ-प्रदर्शक पत्थर (माइल-स्टोन) गड़े रहते थे। एक बड़ी सड़क आजकल की ग्राण्डट्रङ्क

रोड (कलकत्ते से पेशावर वाली सड़क) के समान पश्चि-मोत्तर सीमाप्रान्त में तक्षशिला से लगाकर सीधे मौर्यसाम्राज्य की राजधानी अर्थात् पाटलिपुत्र तक जाती था। यह सड़क लगभग १००० मील लम्बी थी। अर्थशास्त्र से पता लगता है कि मौर्यसाम्राज्य में सड़कें सब दिशाओं को जाती थीं, जिस दिशा में यात्रियों और व्यापारियों का आना जाना अधिक रहता था उसी दिशा में अधिकतर सड़कें बनवाई जाती थीं। उन दिनों जो दक्षिण की ओर सड़कें जाती थीं वे अधिक महत्व की गिनी जाती थीं। क्योंकि वहाँ व्यापार अधिक होता था और वहीं से हीरा, जवाहिर, मोती, सोना इत्यादि बहुमूल्य वस्तुएं आती थीं। सड़कें कई क़िस्म की होती थीं। भिन्न २ प्रकार के मनुष्यों और पशुओं के लिये भिन्न२ सड़कें थीं। जिस सड़क पर राजा का जुलूस वगैरह निकलता था वह "राजमार्ग" कह-लाता था। जिस सड़क पर रथ चलते थे, वह 'रथपथ' कह-लाता था, जिस सड़क पर खच्चर और ऊँट चलते थे, वह "खरोष्ट्रपथ" कहलाता था; जिस सड़क पर पशु चलते थे वह पशु-पथ कहलाता था। और जिस सड़क पर पैदल मनुष्य चलते थे वह "मनुष्य-पथ" कहलाता था। इसी तरह से कुछ सड़कें ऐसी थीं जिन का नाम उन देशों या स्थानों के नाम पर पड़ा हुआ था, जिन देशों और स्थानों को वे जाती थीं इसी तरह की एक सड़क राष्ट्र-पथ की छोटे-छोटे जिलों को ज़ाती थी। 'विवीथ-पथ' नामक सड़क चरागाहोंको जाती थी

जो सड़क सेना के रहने के स्थानों को जाती थी, वह "व्यूह-पथ" के नामसे पुकारी जाती थी। और जो सड़क स्मशानको जाती थी वह स्मशान-पथ कहलाती थी। वन की ओर जाने वाला मार्ग 'वन-पथ' के नाम से पुकारा जाता था और जो मार्ग पुलों तथा बान्धों की ओर जाता था वह सेतु-पथ कहलाता था।

राज्य के सभी काम राज कोष पर निर्भर रहते हैं। इस लिये कर लगाना राजा के लिये बहुत आवश्यक है। अर्थ शास्त्र में एक स्थान पर मौर्यसाम्राज्य के आय के द्वार निम्न रूप से लिखे गये हैं:—(१) राजधानी (२) ग्राम और प्रान्त (३) खानें (४) सरकारी बाग (५) जंगलात (६) जान-वर और चरागाह तथा (७) 'वणिक पथ'।

चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था का उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्र और मेगास्थानीज़ के भ्रमण-वृतान्त में विस्तार पूर्वक मिलता है। उसी वृतान्त को अत्यन्त संक्षेप में २६४ पृष्ठों में गुरुकुल-विश्वविद्यालय काङ्गड़ी के इतिहास-प्रोफ़ेसर श्रीसत्य-केतु विद्यालंकार ने अपने मौर्यसाम्राज्य के इतिहास में उल्लिखित किया है। यहाँ उक्त पुस्तक से अत्यन्त आवश्य-कीय, ज्ञातव्य, और रुचि कर अंश उद्धृत किया जाता है—

न्याय-व्यवस्था

"सम्राट् चन्द्रगुप्त के विस्तृत साम्राज्य में न्याय के लिये एक ही न्यायालय पर्याप्त नहीं हो सकता था। इस लिये

पाटलिपुत्र के बड़े न्यायालय के सिवाय अन्य अनेक छोटे बड़े न्यायालय साम्राज्य में विद्यमान थे। सब से छोटा न्यायालय 'ग्राम-संघ' का होता था, ग्राम की सभा भी अपनी ग्राम-सम्बन्धी बातों का फैसला स्वयं किया करती थी। इस के ऊपर 'संग्रहण' का न्यायालय होता था, इसके ऊपर 'द्रोणमुख' का और 'द्रोणमुख' के ऊपर 'जनपदसन्धि' का। जनपदसन्धि-न्यायालय के ऊपर राजा का अपना न्यायालय होता था, इसमें राजा स्वयं उपस्थित होता था और उस की सहायता के लिये अन्य अनेक न्यायाधीश होते थे। ग्राम संघ और सम्राट् के न्यायालयों के सिवाय शेष पाँच श्रेणियों के न्यायालय दो भागों में विभक्त थे। दोनों की रचना और कार्य सर्वथा भिन्न २ थे। एक का नाम था 'धर्मस्थीय' और दूसरे का 'कण्टक-शोधन'। धर्मस्थीय न्यायालयों में तीन २ न्यायाधीश होते थे, इन्हें 'धर्मस्थ' या 'व्यावहारिक' कहा जाता था। इसी प्रकार 'कण्टकशोधन' न्यायालयों में भी तीन२ न्यायाधीश होते थे, परन्तु इन्हें 'प्रदेष्टा' कहा जाता था। अनेक विद्वानों ने धर्मस्थीय को Civil और कण्टक-शोधन को Criminal न्यायालय कहा है। (पृष्ट २२१-२२)

इन न्यायालयों में किन किन विषय पर विचार होता था, न्याय किस क़ानून के आधार पर होता था, न्यायालयों में मुक़द्मे किस प्रकार किये जाते थे, अपराधी को विविध दण्ड देने, गवाहों और न्यायाधीश का कर्तव्य उनके अधि-

कार आदि का रोचक वर्णन कौटिल्यअर्थशास्त्र में अत्यन्त विस्तार से दिया गया है।"

शिक्षा

"मौर्यकाल में शिक्षा-पद्धति क्या थी, यह कह सकना बहुत कठिन है। हमें मालूम है कि इस काल में तक्षशिला जैसे स्थानों पर विश्वविद्यालय विद्यमान थे। जिन में बहुत से विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त किया करते थे। साथ ही वनों में वानप्रस्थी आचार्य लोग बहुत से शिष्यों को साथ में रख कर विद्या पढ़ाया करते थे। राज्य इनको सहायता देता था। प्राय: यह रीति थी कि आचार्यों को अपने शिक्षणालय के अनुरूप भूमि दे दी जाती थी। इसकी सम्पूर्ण आमदनी शिक्षणालय के लिये ही खर्च होती थी। बहुत से शिक्षणालय सीधे तौर पर राज्य के आधीन थे। इन शिक्षकों को राज्य की ओर से वेतन मिलता था।" (पृष्ठ २७४)

दान

"चन्द्रगुप्त-कालीन राष्ट्रीय व्यय का 'दान' भी बहुत महत्व पूर्ण भाग था।.........बाल, वृद्ध, व्याधि-पीड़ित, आपत्तिग्रस्त आदि व्यक्तियों का पालन-पोषण राज्य की तरफ से होता था। मौर्यकाल में इन असहाय व्यक्तियों के पालन के लिये व्यवस्थित रूप से प्रबन्ध होता था।.........इन असहायों से ऐसे कार्य (चर्खा कातना आदि) कराये जाते थे जिन्हें कि ये आसानी के साथ कर सकें। (पृ० २७५) परिश्रमा-

नुसार मजदूरी के अतिरिक्त राज-कोष से भी आवश्यकता-नुसार उचित सहायता दी जाती थी। इससे प्रतीत होता है कि उन दिनों आजकल जिस तरह भिखमंगों की भरमार है उन दिनों मंगते ढूँढने पर भी न मिलते होंगे। इसके अतिरित्त।कारीगरों,कृषकों,सार्वजनिक कार्यकर्ताओं,संस्थाओं और अन्य संगठन कार्य वगैरह के लिये राज्य की ओर से सहायता मिलती थी। देश-हितैषी परोपकारी- मनुष्यों पर राजा की कृपादृष्टि रहती थी।"

चिकित्सालय और स्वास्थ्य-रक्षा

"प्राचीन भारत में चिकित्सा-शास्त्र ने जो उन्नति की थी, उसका विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता नहीं।...... चन्द्रगुप्त के समय में चिकित्सा-शास्त्र बहुत उन्नति को प्राप्त था।.........चन्द्रगुप्त के समय में राज्य की ओर से अनेक चिकित्सालय होते थे। उनके साथ भैषज्यागार (Store-Rooms) भी होते थे।......मानव चिकित्सा के अलावा पशु चिकित्सा का भी प्रबन्ध था।........सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में इस बात के लिये विशेष प्रयत्न किया जाता था कि रोग होने ही न पावें। असावधानी उपेक्षा आदि रखने पर चिकित्सकों को भी दण्ड दिया जाता था।" (पृ० २८९-९०)।

किन्तु आज हम उक्त कथन के बिलकुल विपरीत देखते हैं। जितने अधिक चिकित्सालय खुलते जा रहे हैं उतने ही अधिक दिनदूने रात चौगुने—रोगी बढ़ते जा रहे हैं। नये २

रोग उत्पन्न हो रहे हैं। चिकित्सालयों में रोगियों की संख्या घटने के बजाय प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही है। इसका कारण केवल यही है कि राज्य की ओर से "रोग होने ही न पावें" ऐसा चन्द्रगुप्त के शासनकाल जैसा कोई नियम ही नहीं है। जब जड़ स्थिर है तब पत्तों के पतझड़ होने से लाभ क्या ? व्यापारी वर्ग नकली, हानिकारक, मिलावटी, ख़राब वस्तु नहीं बेच सकते थे। सफ़ाई का पूरा ध्यान रक्खा जाता था। बाजार, गली, मोहल्लों में कूड़ा, पेशाब, पाख़ाना, मरे हुये साँप, चूहे तथा बड़े जानवरों को डाल देने पर दण्ड मिलता था।

सार्वजनिक संकटों का निवारण

"सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासनकाल में दुर्भिक्ष, अग्नि, बाढ़ आदि सार्वजनिक संकटों के निवारण के लिये अनेक प्रकार से उपाय किया जाता था" (पृ० २९४)।

आवागमन के साधन

"चन्द्रगुप्त का साम्राज्य बहुत विस्तृत था। इसलिये आवागमन के लिये उत्तम साधनों और मार्गों की बहुत आवश्यकता थी। मार्गों का प्रबन्ध सरकार ने एक पृथक विभाग के सुपुर्द रक्खा था। जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनों का उत्तम प्रबन्ध था।

जलमार्ग—मौर्य चन्द्रगुप्त के शासनकाल में नौकाओं और जहाजों का बहुत अधिक चलन था। नौकानयन-शास्त्र

की बहुत उन्नति हो चुकी थी।........कितने ही प्रकार के जहाज़ होते थे। समुद्र से मोती, शंख आदि एकत्रित करने वाले जहाज़ भी थे। (पृ० ३०२) समुद्र में आयी हुई विपत्तियों और डाकुओं के आक्रमण आदिसे रक्षाके भी उपाय थे।

स्थलमार्ग—सड़कों का उत्तमोत्तम प्रबन्ध था"

रीति-रिवाज़, स्वभाव, सभ्यता

"मौर्य-कालीन भारतीयों के रीति,रिवाजों के सम्बन्ध में यूनानी लेखकों के कुछ विवरण उद्धृत करना भी आवश्यक प्रतीत होता है:—

"भारतीय लोग किफ़ायत के साथ रहते हैं। विशेषतः तब जब कि वे कैम्प में हों।"

"भारतीय लोग अपने चालचलन में सीधे और मितव्ययी होने के कारण बड़े सुख से रहते हैं"।

"उनके क़ानून और व्यवहार की सरलता इससे अच्छी तरह प्रमाणित होती है कि वे न्यायालय में बहुत कम जाते हैं। उनमें गिरवी और धरोहर के अभियोग नहीं होते और न वे मुहर व गवाह की जरूरत रखते हैं। वे एक दूसरे के पास धरोहर रखकर आपस में विश्वास करते हैं। अपने घर व सम्पत्ति, वे प्रायः अरक्षित अवस्था में ही छोड़ देते हैं" ये बातें सूचित करती हैं कि उनके भाव उदार थे।

"अपने चाल की साधारण सादगी के प्रतिकूल वे बारीकी और नफ़ासत के प्रेमी होते हैं। उनके वस्त्रों पर सोने का

काम किया हुआ होता है। वे वस्त्र मूल्यवान रत्नों से विभूषित रहते हैं। वे लोग अत्यन्त सुन्दर मलमल के बने हुये फूलदार कपड़े पहनते हैं। सेवक लोग उनके पीछे २ छाता लगाये चलते हैं। वे सौन्दर्य का बड़ा ध्यान रखते हैं और अपने स्वरूप को सँवारने में कोई उपाय उठा नहीं रखते।"

"सचाई और सदाचारी दोनों की वे समान रूप से प्रतिष्ठा करते हैं"। 'भारतवासी मृतक के लिये कोई स्मारक नहीं बनाते, वरन उस सत्यशीलता को जिसे मनुष्यों ने अपने जीवन में दिखलाया है तथा उन गीतों को जिनमें उनकी प्रशंसा वर्णित रहती हैं मरने के बाद उनके स्मारक को बनाये रखने के लिये पर्याप्त समझते हैं।"

"चोरी बहुत कम होती हैं। मेगस्थनीज कहता है कि उन लोगों ने जो एण्ड्रोकोटश (चन्द्रगुप्त) के डेरे में थे, जिसके भीतर ४००००० मनुष्य पड़े थे, देखा कि चोरी जिसकी इत्तला किसी एक दिन होती थी, वह २०० द्रामची के मूल्य से बढ़ती की नहीं होती थी, और यह ऐसे लोगों के बीच जिनके पास लिपि-बद्ध क़ानून नहीं, वरन जो लिखने से अनभिज्ञ हैं और जिन्हें जीवन के समस्त कार्यों में स्मृति पर ही भरोसा करना पड़ता है।"

"भारतवासियों में विदेशियों तक के लिये कर्मचारी नियुक्त होते हैं, जिनका काम यह देखने का रहता है कि किसी विदेशी को हानि न पहुँचने पावे। यदि उन विदेशियों

में से कोई रोगग्रस्त हो जाता है तो वे उसकी चिकित्सा के निमित्त वैद्य भेजते हैं तथा और दूसरे प्रकार से भी उसकी रक्षा करते हैं। यदि वह मर जाता है, तो उसे गाड़ देते हैं और जो सम्पत्ति वह छोड़ जाता है उसे उसके सम्बन्धियों के हवाले कर देते हैं। न्यायाधीश लोग भी उन मामलों का जो विदेशियों से सम्बन्ध रखते हैं, बड़े ध्यानपूर्वक फैसला करते हे और उन लोगों पर बड़ी कड़ाई करते हैं, जो उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं।"

"भूमि जोतने वाले, यद्यपि उनके पड़ोस में युद्ध हो रहा हो, तो भी किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नहीं होते। दोनों पक्ष के लड़ने वाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो खेती में लगे हुये हैं उन्हें पूर्ण तया निर्विघ्न पड़ा रहने देते हैं। इसके सिवाय न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यानाश करते है और न उसके पेड़ काटते हैं"। (पृ० ४०४-७)

डाक-प्रबन्ध

"मौर्यकाल में डाक का प्रबन्ध कबूतरों और तेज चलने वाले घोड़ों द्वारा होता था।"

अत्यन्त संक्षेप में दिये हुये उक्त अवतरणों के पढ़ने से प्रत्येक मनुष्य स्वयं विचार सकता है कि चन्द्रगुप्त कैसा प्रतापी और विलक्षण राजा था। जिसने केवल ३४ वर्ष के अल्प समय में ही अपने हाथों-स्थापित कये नवीन राज्य को ऐसी उन्नति दशा पर पहुँचा दिया कि आज

से २२ सौ वर्ष पूर्व के इसके राज्य-प्रबन्ध का वर्णन पढ़कर हमारे पूर्वजों को मूर्ख समझने वाली आजकल की सभ्यताभिमानी जातियाँ भी आश्चर्यचकित होती हैं"। इच्छा थी कि इस प्राचीन काल के प्रबन्ध-सभ्यता का तुलनात्मक विवेचन वर्तमान शासन की सभ्यता, नीति आदि से किया जाय किन्तु विस्तार-भय से विचार स्थगित करने पड़ते हैं।

चन्द्रगुप्त का राज्य-त्याग

क़रीब २४ वर्ष निष्कण्टक राज्य करते हुए ई० स० २९८ और वि० सं० २४१ वर्ष पूर्व भारतसम्राट् चन्द्रगुप्त ने रात्रि के पिछले पहर में निम्नलिखित १६ स्वप्न देखे। १ कल्पवृक्ष की शाखा का टूटना, २ सूर्य का अस्तहोना, ३ चलनी के समान छिद्र सहित चन्द्रमण्डल का उदय, ४ बारह फणवाला सर्प, ५ पीछे लौटा हुआ देवताओं का मनोहर विमान, ६ अपवित्र स्थान पर उत्पन्न हुआ विकसित कमल, ७ नृत्य करता हुआ भूतों का परिवार, ८ खद्योत का प्रकाश, ९ अन्त में थोड़े से जल का भरा हुआ तथा बीच में सूखा हुआ सरोवर, १० सुवर्ण के भाजन में श्वान का खीर खाना, ११ हाथी पर चढ़ा हुआ बन्दर, १२ समुद्र का मर्यादा छोड़ना, १३ छोटे छोटे बचों से धारण किया हुआ और बहुत भार से युक्त रथ, १४ ऊँट पर चढ़ा हुआ तथा धूल से आच्छादित राजपुत्र, १५ देदीप्यमान कान्ति रहित रत्नराशि, १६ काले हाथियों का युद्ध। इन स्वप्नों के देखने से चन्द्रगुप्त को बहुत

आश्चर्य हुआ। प्रातः काल होने पर उसने आचार्य भद्रबाहु से इन स्वप्नों का फल बताने की प्रार्थना की। आचार्य भद्र-बाहु ने इन स्वप्नों को सुनकर इस प्रकार भविष्यवाणी की। १ कल्पवृक्ष की शाखा का भंग देखने से अब आगे कोई राजा जिन भगवान के कहे हुए संयम का ग्रहण नहीं करेंगे, २ रवि का अस्त देखना, पंचमकाल में एकादशाङ्ग पूर्वादि श्रुतज्ञान न्यून होना सूचित करता है, ३ चन्द्रमण्डल का बहुत छिद्रयुक्त देखना भविष्य में जिनमत में अनेक मतों का प्रादुर्भाव कहता है, ४ बारह फणयुक्त सर्पराज के देखने से बारहवर्ष पर्यन्त अत्यन्त भयंकर दुर्भिक्ष पड़ेगा, ५ देवताओं के विमान को उल्टा जाता हुआ देखने से पंचमकाल में देवता, विद्याधर तथा चारण मुनि नहीं आवेंगे, ६ खोटे स्थान में कमल उत्पन्न हुआ जो देखा है उससे बहुधा हीन जाति के लोग जिनधर्म धारण करेंगे किन्तु क्षत्रिय आदि उत्तम कुल संभूत मनुष्य धारण नहीं करेंगे, ७ आश्चर्य जनक जो भूतों का नृत्य देखा है उससे मालूम होता है कि मनुष्य नीचे देवों में अधिक श्रद्धा के धारक होंगे, ८ खद्योत का उद्योत देखने से-जिन सूत्र के उपदेश करने वाले भी मनुष्य मिथ्यात्त्व करके युक्त होंगे और जिन धर्म भी कहीं कहीं रहेगा, ९ जलरहित तथा कहीं थोड़े जल से भरे हुए सरोवर के देखने से-जहाँ तीर्थं-कर भगवान् के कल्याणादि हुये हैं, ऐसे तीर्थस्थानों में जिन धर्म नाश को प्राप्त होगा, तथा कहीं दक्षिणादि देश में कुछ

रहेगा भी, १० सुवर्ण के भाजन में कुत्ते ने जो खीर खाई है उससे मालूम होता है कि लक्ष्मी का प्रायः नीच पुरुष उपभोग करेंगे, और कुलीन पुरुषों को दुष्प्राप्य होगी, ११ ऊँचे हाथी पर बन्दर बैठा हुआ देखने से नीच कुल में पैदा होने वाले लोग राज्य करेंगे, क्षत्रिय लोग राज्य रहित होंगे, १२ मर्यादा का उल्लंघन किये हुये समुद्र के देखने से प्रजा की समस्त लक्ष्मी राजा लोग ग्रहण करेंगे तथा न्यायमार्ग का उल्लंघन करने वाले होंगे, १३ बछड़ों से वहन किये हुए रथ के देखने से बहुधा करके लोग तारुण्य अवस्था में संयम ग्रहण करेंगे किन्तु शक्ति के घट जाने से वृद्धावस्था में धारण नहीं करेंगे १४ ऊँट पर चढ़े हुये मनुष्य को देखने से ज्ञात होता है— राजा लोग निर्मल धर्म छोड़कर हिंसा मार्ग स्वीकार करेंगे, १५ धूल से आच्छादित रत्नराशि के देखने से—निर्ग्रन्थ मुनि भी परस्पर निन्दा करने लगेंगे, १६ तथा काले हाथियों का युद्ध देखने से प्रतीत होता है कि मेघ मनोभिलाषित नहीं बर्सेंगे[1]।

स्वप्न-फल के सुनने से धर्मनिष्ठ चन्द्रगुप्त को संसार से वैराग्य हो आया, उसके सामने संसार की नैरंगिया नानारूप में इधर उधर थिरकने लगीं। उसकी हृद्-तन्त्री से अनेक उद्गार ध्वनित होने लगे "यह संसार परिवर्तनशील है, जो जन्मा है वह मरेगा अवश्य! अर्थात् जिसकी आदि है उसका

१—भद्रबाहु-चरित्र-पृ० ३०-३४

अन्त अवश्य होना है, इस प्राकृतिक नियम को कोई तोड़ने वाला नहीं, सभी इसकी गोद में क्रमानुसार विश्राम लेते जा रहे हैं। यह अटल नियम सभी पर लागू है; कोई भी इसकी तीव्र दृष्टि से छुपकर अन्यत्र विश्राम नहीं पा सकता। सभी को एक न एक दिन इस क्रूर काल के हलक़ में अवश्य उतरना होगा। मैं क्या चीज़ हूँ बड़े २ साधु-महात्मा जिनकी कि संसार को आवश्यकता थी, वे भी इसके चँगुल से न बचने पाये। महारथी कृष्ण और अर्जुन जैसे योद्धाओं के होते हुये भी इसने १६ वर्षीय-बालक अभिमन्यु को गले के नीचे उतार लिया, उत्तरा और सुभद्रा के आसमान को कम्पित कर देने वाले रुदन को सुनकर भी इसका वज्र हृदय न पिघला। धन दौलत, मंत्र,तंत्र, सब कुछ होते हुए भी मृत्यु से कोई नहीं बचा सकता; मनुष्य की शूर-वीरता, जाहो-जलाल सब इससे पनाह माँगते हैं। सदैव दिन किसी के यकसाँ नहीं रहते, कर्मों का चक्र सदैव घूमता रहता है—जिस विश्वोद्धारक भगवान् ऋषभदेव के भरत चक्रवर्ति जैसे पुत्र और स्वर्गों के इन्द्र जैसे आज्ञाकारी सेवक, वह भी कर्मों के चँगुल से न बचने पाये अर्थात् सब कुछ होते हुए भी १२ माह निराहार रहना पड़ा यह सब कर्मों के खेल हैं। जिस द्रोपदी के सौन्दर्य का गुण गान विश्वभर में था, जिसके रक्षक महाभारत विजेता पाण्डव महाबली थे, वही द्रोपदी सरे दरबार कीचक द्वारा अपमानित की गई, कितना आश्चर्य-जनक

कौतूहल-वर्द्धक दृश्य है ! लाख प्रयत्न किये जाँय सब निष्फल होंगे। आपत्ति कभी कहकर नहीं आती न मालूम इसका कब आक्रमण हो जाय ? राजा नल के भाग्य ने जब पलटा खाया तो खूँटी हार निगल गई। अन्य की तो बात क्या ? पाप कर्मोदय होने पर अपने शरीर के कपड़े भी काटने लगते हैं। होनहार बलवान है। विद्वद्वर्य्य वशिष्ट जैसे राजनीतज्ञ राज्याभिषेक का मुहूर्त निकालें और फिर भी विघ्न आ जाय ? अर्थात् जो मुहूर्त रामचन्द्र जी के राज्याभिषेक के लिये नियत था ठीक वही समय उनके वन-गमन का निश्चत हुआ। सर्वज्ञदेव के सिवाय कौन जान सकता है कि इस भाग्य में क्या लिखा है ? क्षणभर में न जाने क्या होने वाला है ? आह ! यह संसार क्या है, बाजीगर का तमाशा है जो शाम को दूल्हा बना हुआ था—जिसके हृदय में बड़ी २ उमगें थीं—प्रातःकाल देखा तो मृत्यु की गोद में पड़ा सो रहा है। दो पाटों में चने की तरह पीस देना कर्मों का कैसा कठोर नियम है ?

यही सब कुछ सोच कर आत्म-सुख के इच्छुक सम्राट् चन्द्रगुप्त ने आचार्य भद्रबाहु से जैनेश्वरी-दीक्षा देने के लिये सविनय प्रार्थना की। आचार्य ने उपयुक्त पात्र समझ कर चन्द्रगुप्त को साधु के व्रत दे दिये, अब वह राज्य भार अपने पुत्र को सौंप कर कठोर तप तपने लगा ? एक दिन भद्रबाहुस्वामी अपने शिष्यों के साथ नगर में आहार के

लिये गये। वहाँ एक गृह में केवल साठ दिन की आयु का बालक पालने में झूलता था, जब आचार्य गृह में गये उस समय बालक ने "जाओ! जाओ!!" ऐसा मुनिराज से कहा। बालक के अद्भुत वचन सुन कर मुनिराज ने पूछा "वत्स! कहो तो कितने वर्ष तक"?। फिर बालक ने कहा "बारह वर्ष पर्यन्त"। बालक के वचनसे मुनिराजने निमित्त ज्ञान से जाना कि मालवदेश में बारह वर्ष पर्यन्त भीषण दुर्भिक्ष पड़ेगा। दयालु मुनिराज अन्तराय समझ कर उसी समय घर से वापिस वनमें चले गये। भद्रबाहु स्वामी ने देखा कि यह घोर दुर्भिक्ष विंध्य तथा नीलगिरि पर्वत के मध्य होगा, इसके प्रभाव से अनेक प्राणी कालकवलित होंगे तथा इस समय में मुनिधर्म भी पालन करना कठिन हो जायगा। ऐसा विचार कर बारह हजार मुनियों का संघ लेकर दक्षिण देश को प्रस्थान किया। महाराज चन्द्रगुप्त भी गुरू के साथ ही साथ चले गये। "कटवप्र" नामक रमणीय पर्वत के निकट पहुँचने पर आकाशवाणी द्वारा भद्रबाहु स्वामी को यह मालूम हो गया कि हमारे जीवन का भाग बहुत ही छोड़ा है। इस लिये आचार्य ने श्री विशाखाचार्य मुनि को अपने पास रहने की आज्ञा दी। जिसने अपने गुरू के पास अन्तकाल तक रह कर असीम गुरू-भक्ति दिखाई। और अन्त में स्वयं भी समाधिमरण करके स्वर्गासीन हुआ।

चन्द्रगुप्त के राज्यत्याग और जैनसाधु होकर तपश्चर्या

करने की उक्त घटना श्री रत्नकीर्ति आचार्य कृत श्री भद्रबाहु-चरित्र में विस्तार के साथ लिखी हुई है। भद्रबाहु-चरित्र के अलावा "साहित्य में इस प्रसंग का सब से प्राचीन उल्लेख हरिषेणकृत "बृहत्कथाकोष" में पाया जाता है। यह ग्रन्थ शक सं० ८५३ का रचा हुआ है[१]? चिदानन्द कवि के "मुनिवंशाभ्युदय" नामक कन्नड़ काव्य में भी भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की कुछ वार्ता आई है। यह ग्रन्थ श० सं० १६०२ का बना हुआ है[२]। शक सं० १७६१ के बने हुये देवचन्द्र कृत "राजावलिकथा" नामक कन्नड़ ग्रन्थ में यह वार्ता प्रायः रत्ननन्दीकृत भद्रबाहु-चरित्र के समान ही पाई जाती है[३]। यतिवृषभ नामक दिगम्बरजैनाचार्य कृत शक की चौथी शताब्दि में बने हुये "त्रिलोकप्रज्ञप्ति" नाम के ग्रन्थ में लिखा है:—

मउड धरेसुं चरिमो जिणदिक्खं धरदि चन्दगुत्तोय।
तत्तो मउड धरायो पव्वज्जं णेव गेहणंति॥

अर्थात्—मुकुटधर राजाओं में सबसे अन्तिम राजा चन्द्र-गुप्त ने जैन-धर्म की दीक्षा ली। उसके बाद किसी मुकुटधर राजा ने जिन-धर्म की दीक्षा ग्रहण न की[४]। ब्रह्मचारी श्री मनेमि-

१—जैन-शिलालेख-संग्रह भूमिकापृष्ठ ५६

२— " " " ५६

३— " " " ६०

४—भारतवर्ष के प्राचीन राजवंश भाग २ रा पृष्ठ १४

दत्त द्वारा रचित "आराधना कथाकोष" में भी भद्रबाहुचरित्र के अनुसार कथा उल्लिखित है। इसी से मिलती जुलती कथा रामचन्द्रमुमुक्षु कृत पुण्याश्रव—कथाकोष में भी पाई जाती है।

"उक्त जैन-साहित्य के सिवाय श्रवणबेलगोल (मैसूर) में प्राप्त अनेक संस्कृत व कनड़ी भाषा के शिला-लेख, भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। इन शिलालेखों को प्रकाशित करते हुये श्रीयुत राइस साहब लिखते हैं:—"इस स्थान पर जैनों की आबादी अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा हुई, इस व्यक्ति की मृत्यु इसी स्थान पर हुई। अन्तिम समय में अशोक का पितामह मौर्यराजा चन्द्रगुप्त—ग्रीक ऐतिहासिकों का सैण्ड्राकोट्टस—इसकी सेवा करता था। श्रवणबेलगोल की स्थानीय अनुश्रुति Tradition भद्रबाहु और चन्द्र-गुप्त का सम्बन्ध जोड़ती है। इतना ही नहीं; अनुश्रुति द्वारा श्रवणबेलगोल के साथ इन दोनों का भी सम्बन्ध जुड़ता है श्रवणबेलगोल के दो पर्वतों में से छोटे का नाम "चन्द्रगिरि" है। कहा जाता है कि यह नाम "चन्द्रगुप्त" नामी एक महात्मा के नाम पर है। इसी पर्वत पर एक गुफा भी है। इसका नाम भद्रबाहुस्वामी की गुफा है। यहाँ एक मठ भी है जिसे "चन्द्रगुप्तवस्ति" कहते हैं। चन्द्रगिरि पर्वत पर अनेक शिलालेख उपलब्ध हुये हैं। ये लेख जैन-साहित्य के उक्त विवरण को ही पुष्ट करते हैं। इनसे प्रतीत होता है कि

आचार्य भद्रबाहु ने इस स्थान पर अपने प्राणों का त्याग किया था और अन्तिम समय में उनका शिष्य चन्द्रगुप्त उनकी सेवा करता था। इन शिलालेखों में से मुख्य शिलालेख में द्वादशवर्ष के दुर्भिक्ष तथा उसके बाद उज्जैन से जैन-मुनियों के संघ का दक्षिण में आना—आदि सब वृत्तान्त लिखा है। ये शिलालेख विविध समयों के हैं। सबसे प्राचीन शिलालेख सातवीं सदी ई० पू० का है[१]। अतः प्राचीनता में भी कोई सन्देह नहीं किया जा सकता[२]।"
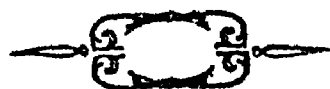
१—इस शिलालेख को सेठ पद्मराज जी जैन रानीवाले, ने आरा से प्रकाशित 'जैनसिद्धान्त-भास्कर'—जिसे वह स्वयं सम्पादन करते थे—भाग १ किरण १ पृष्ठ १४ में अशोक द्वारा निर्माण कराया हुआ प्रायः २६० ई० पू० का निश्चय करते हैं और लिखते हैं कि 'हमारे इस कथन की पुष्टि लुईस राइसाहब ने भी की है'। किन्तु माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित "जैनशिलालेख-संग्रह में इसका समय श० सं० ५२२ के लग भग दिया गया है।—'दास'

२—मौर्य-साम्राज्य का इति० पृष्ट ४१६-२१।

चन्द्रगुप्त का धर्म

जैन-साहित्य और शिलालेखों से मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रसिद्ध जैन-धर्मनिष्ठ प्रमाणित होते हैं, किन्तु इतिहास-लेखक बहुत समय तक उक्त कथन पर विश्वास करने को तैयार नहीं हुये। पर, अब ऐतिहासिक विद्वानों ने बहुमत से चन्द्रगुप्त का जैनधर्मावलम्बी होना स्वीकार कर लिया है। यथाः—

१—सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ मि० विन्सेण्ट ए० स्मिथ 'भारत का प्राचीन इतिहास' (History of India) की तृतियावृत्ति पृ० १४६ में लिखते हैं किः—'जैनकथाओं में उल्लेख है कि चन्द्रगुप्त मौर्य जैन था। जब बारहवर्ष का दुष्काल पड़ा तब चन्द्रगुप्त अन्तिमश्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ दक्षिण की ओर चला गया और मैसूर के अन्तर्गत श्रवणबेलगोला में—जहाँ अबतक उसके नाम की यादगार है—मुनि के तौर पर रहा और अन्त में वहीं पर उसने उपवास पूर्वक प्राण त्याग दिये। मैंने अपनी पुस्तक की द्वितियावृत्ति में इस कथा को रद्द कर दिया था और बिलकुल कल्पित ख़याल किया था, परन्तु इस कथा की सत्यता के विरुद्ध में जो शङ्कायें हैं, उनपर पूर्णरूप से पुनः विचार करने से अब मुझे विश्वास होता है कि यह कथा सम्भवतया सच्ची है।

चन्द्रगुप्त ने वास्तव में राजपाट छोड़ दिया होगा और वह जैनसाधु होगया होगा। निस्सन्देह इस प्रकार की कथायें बहुत कुछ समालोचना के योग्य हैं और लिखित साक्षी से ठीक २ पता लगता नहीं, तथापि मेरा वर्तमान में यह विश्वास है कि यह कथा सत्य पर निर्धारित हैं और इसमें सचाई है। 'राइस साहब' ने इस कथा की सत्यता का अनेक स्थलों पर बड़े ज़ोर से समर्थन किया है। हाल में उन्होंने "शिला-लेखों से मैसूर तथा कुर्ग" नामक पुस्तक में इसका ज़िक्र किया है[१]।"

२—मेगस्थनीज़ ने जो सेल्युकस की ओर से चन्द्रगुप्त के दरबार में राजदूत था, राज्यासन की बहुत सी बातें जानकर अपने इतिहास में उसका बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। उस वर्णन में जहाँ भारतीय ऋषियों का उल्लेख किया गया है वहाँ श्रमणों[२] का भी वर्णन आया है। दूसरी जगह जहाँ

१—जैनहितैषी ११ वाँ भाग पृ० ४२७।

२—भूषण-टीका में श्रमण शब्द का अर्थ दिगम्बर किया है:—'श्रमणादिगम्बराः श्रमणा वातवसना इति निघण्टुः'. (देखो बरदाकान्त मुखोपाध्याय एम० ए० का लेख 'जैनधर्म का महत्व' प्रथम भाग पृ० १२६) जैन-सूत्रों में कितने ही स्थलों पर जैन साधुओं को 'श्रमण' सम्बोधन किया हुआ मिलता है और आजकल भी जैनियों के एक (स्थानकवासी) सम्प्रदाय का नाम ही "श्रमणोपासक" प्रचलित है। कल्पसूत्र में लिखा है:—

उन्होंने भारतीय दार्शनिकों की चर्चा की है वहाँ श्रमणों का भी उल्लेख किया है। उनका कथन है कि ये श्रमण ब्राह्मणों तथा बौद्धों से भिन्न थे। इनका घनिष्ठ सम्बन्ध महाराज चन्द्रगुप्त से था। वे अपने राजनीतिक विषय में जहाँ तहाँ दूतों को भेजकर उन श्रमणों की सम्मति लिया करते थे। वे स्वयं अथवा दूतों द्वारा बड़ी विनय और भक्ति के साथ उन श्रमणों की पूजा किया करते थे। उन्हें बड़े महर्द्धिशाली जानकर महाराज चन्द्रगुप्त सदा उनके कृपाभिलाषी रहा करते थे और उन्हें बड़ी पूज्यदृष्टि से सम्मानित कर प्रायः देवताओं की पूजा और आराधना उन्हीं से कराया करते थे[1]।"

३—मि० ई० थॉमस कहते हैं कि:—"महाराज चन्द्रगुप्त जैनधर्म के नेता थे। जैनियों ने कई शास्त्रीय और ऐतिहासिक प्रमाण द्वारा इस बात को प्रमाणित किया

The venarable Ascetic Mahavira's
Parents were worshipers of
Parsva and Followers of the Srainanas.
S B. E. Vol 22 kalpa sutra.
B. K. II Lc 15. P. 194.

अर्थात्—उत्कृष्ट मुनिराज भगवान् महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के उपासक थे और श्रमणों के अनुयायी थे।

१—जैनसिद्धान्त-भास्कर भाग १ किरण १ पृ० ८।

है। और आपका यह भी कथन है कि चन्द्रगुप्त के जैन होने में शंकोपशंका करना व्यर्थ है क्योंकि, इस बात का साक्ष्य कई प्राचीन प्रमाणपत्रों में मिलता है और वे प्रमाणपत्र (शिलालेख) निस्संशय अत्यन्त प्राचीन हैं। महाराज चन्द्रगुप्त का पौत्र अशोक जो एक प्रबल सार्वभौम नृपति था। वह यदि अपने पितामह के धर्म का परिवर्तन नहीं करता अर्थात् बौद्धधर्म अङ्गीकार नहीं करता तो उसको जैनधर्म का आश्रयदाता कहने में किसी प्रकार की अत्युक्ति न होती। मेगस्थनीज का कथन है कि "ब्राह्मणों के विरुद्ध जो जैनमत प्रचलित था उसी को चन्द्रगुप्त ने स्वीकार किया था"।

४—मि० विल्सन साहेब कहते हैं कि:—"यदि मुझे जैनधर्मावलम्बियों की समालोचना करनी होगी तो भारतवर्ष पर आक्रमणकर्ता मसीडोनियन अलेकजेण्डर तक की ऐतिहासिक बातें खोज करनी पड़ेंगी। अर्थात मेगस्थनीज ने जैनियों का वर्णन किया है जिसका "एरियन" 'स्ट्रैबो' इन प्रसिद्ध ग्रन्थकारों ने पूर्ण उल्लेख किया है। और मेगस्थनीज लगभग उसी समय में (अलेकजेण्डर के समय में भारतवर्ष में आया था।"

५—प्रसिद्ध इतिहासज्ञ और पुरातत्ववेत्ता मि० बी० लुइसराइस साहब कहते हैं कि:—"चन्द्रगुप्त के

जैन होने में कोई सन्देह नहीं है" और यह भी कहते हैं कि "निःसन्देह चन्द्रगुप्त भद्रबाहु के समकालीन थे।"

६—एन्सायक्लोपीडिया आफ़ रिलीज़न में लिखा हुआ है कि:—"वी० सी० २९७ में संसार से विरक्त होकर चन्द्रगुप्त ने मैसूर प्रान्तस्थ श्रवणबेलगुल में बारहवर्ष तक जैनदीक्षा से दीक्षित होकर तपस्या की और अन्त में तप करते हुए स्वर्गधाम को सिधारे"।

७—मि० जार्ज सी० एम० वर्डवुड लिखते हैं कि:—"चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार ये दोनों बौद्धधर्मावलम्बी नहीं थे। किन्तु, चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक ने जैनधर्म को छोड़कर बौद्धधर्म स्वीकार किया था[1]"।

८—जायसवाल महोदय समस्त उपलब्ध साधनों पर से अपना मत स्थिर करके लिखते हैं:—"ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक के प्राचीन जैनग्रन्थ व पीछे के शिलालेख चन्द्रगुप्त को जैनराजमुनि प्रमाणित करते हैं। मेरे अध्ययनों ने मुझे जैनग्रन्थों के ऐतिहासिक वृतान्तों का आदर करने के लिये बाध्य किया है। कोई कारण नहीं है कि हम जैनियों के इस कथन को कि चन्द्रगुप्त अपने राज्य के अन्तिम भाग में जिनदीक्षा लेकर मरण को प्राप्त हुआ, न मानें। मैं पहिला ही व्यक्ति यह मानने वाला नहीं हूँ। मि० राइस ने (जिन्होंने श्रवणबेलगोला के शिलालेखों का अध्ययन किया है) पूर्ण-

१—जैनसिद्धान्त-भास्कर कि० २-३ पृ० ९।

रूप से अपनी राय इसी पक्ष में दी है और मि० वी० स्मिथ भी अन्त में इसी ओर झुके हैं[1]"।

चन्द्रगुप्त के जैनत्व पर श्री सत्यकेतुजी की आपत्तियाँ और उनका समाधान

जैन-साहित्य, शिलालेख और उक्त ऐतिहासिक विद्वानों के मत से पुष्ट होता है कि मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त जैन थे। किन्तु प्रो० सत्यकेतुजी विद्यालंकार—जिन्होंने अत्यन्त परिश्रम और खोज के साथ बृहत् "मौर्यसाम्राज्य का इतिहास" लिखा है—का मत है कि अशोक का पितामह चन्द्रगुप्त जैन नहीं था, अपितु अशोक का पौत्र सम्प्रति जैन था। और सम्प्रति को ही वे चन्द्रगुप्त द्वितीय लिखते हैं और अपने पक्ष के समर्थन में वे जैनग्रन्थों को ही पेश करते हैं। आपका कथन है कि—

१—पुण्याश्रव कथा कोप में भी चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध श्रवणबेलगोल के साथ जोड़ा गया है। परन्तु इस ग्रन्थ में जिस चन्द्रगुप्त के जैनसाधु बनकर अनशनव्रत करने का उल्लेख है, वह अशोक का पितामह चन्द्रगुप्त नहीं, अपितु अशोक का पौत्र चन्द्रगुप्त है[2]।

२—राजावलिकथा के अनुसार चन्द्रगुप्त अपने पुत्र-

१—संयुक्तप्रान्त के प्राचीन जैनस्मारक पृ० २०-२१।

२—मौ० सा० का इ० पृष्ठ ४२२।

सिंहसेन को राज्य देकर भद्रबाहु के साथ दक्षिण की तरफ़ चला गया। हम जानते हैं कि मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त का पुत्र सिंहसेन न था अपितु बिन्दुसार था। अतः राजावलिकथा के अनुसार भी अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त का श्रवणबेलगोल से कोई सम्बन्ध नहीं है[1]।

३—भद्रबाहु-चरित्र में मुख्यतया आचार्य भद्रबाहु का इतिहास लिखा गया है। उसमें इस बात के लिये कोई निर्देश नहीं कि भद्रबाहु का शिष्य कौन सा चन्द्रगुप्त है? चन्द्रगुप्त के नाम से अनेक सम्राट् हुये हैं। शिलालेखों के सम्बन्धमें भी यही बात है। वे जैन-साहित्य के अनुसार श्रवणबेलगोल की अनुश्रुति को लेख बद्ध कर देते हैं। इससे अधिक वे कोई मदत नहीं करते। हम इस अनुश्रुति में कोई सन्देह नहीं करते कि चन्द्रगुप्त नाम का उज्जयनि का एक राजा आचार्य भद्रबाहु के साथ श्रवणबेलगोला में आया था और वहाँ पहुँच कर अनशनव्रत करके स्वर्ग-लोक सिधारा था। परन्तु प्रश्न यही है, कि यह चन्द्रगुप्त है कौन सा? जैन-साहित्य के अनुसार यह अशोक का पौत्र है[2]।

४—परिशिष्टपर्व प्रसिद्ध जैन-ग्रन्थ है। इसमें चन्द्रगुप्त की मृत्यु तक का वर्णन किया गया है। परन्तु इसके साथ आचार्य भद्रबाहु और श्रवणबेलगोलाका कोई जिक्र नहीं।

१—मौ० सा० का० इ० पृष्ठ ४२३।
२ „ ४२४।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए क्या हम सुगमता से इस परिणाम् पर नहीं पहुँच सकते कि मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त का भद्रबाहु और श्रवणबेलगोला के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। यह सम्बन्ध तो अशोक के पौत्र राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय का है[1]।

५—श्रीयुत राइससाहब ने इस कठिनता का अनुभव किया था, इसीलिये इस कठिनता से बचने के लिये उन्होंने लिखा था कि दो चन्द्रगुप्तों का लिखा जाना प्राचीन अनुश्रुति में कुछ गड़बड़ का परणाम् है, और जैन-लेखकों ने भूलसे चन्द्रगुप्तको जो वस्तुतःअशोकका पितामह था-अशोक का पौत्र लिख दिया है।" हम श्रीयुत राइससाहब की बात मान लेते यदि जैन-साहित्य में अशोक के पौत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय के वर्णन के साथ-साथ उसके पितामह चन्द्रगुप्त का वर्णन न आता। परन्तु कठिनता तो यह है कि दोनों चन्द्रगुप्तों का वर्णन जैन-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। यद्यपि दोनों को जैन बताया गया है, पर प्रथम चन्द्रगुप्त के साथ भद्रबाहु और श्रवणबेलगोला का कोई सम्बन्ध नहीं बताया गया[2]।"

यही ५ युक्तियाँ हैं जो विद्यालङ्कार जी ने अपने पक्ष के समर्थनमें लिखी हैं विद्वान् लेखक की दलील सबकी सब ज्यों

१—मौर्य सा० का इ० पृ० ४२४।
२ ,, ,, ४२४-२५।

की त्यों उद्धृत कर दी गई हैं। यहाँ अब इन्हीं युक्तियों पर विचार किया जाता है।

१—विद्यालङ्कारजी के मत का मुख्य आधार पुण्याश्रव-कोष है। इस ग्रन्थ के पृष्ठ २१० के फुटनोट से सूचित होता है कि उक्त कहानी 'भद्रवाहु-चरित्र' केआधार पर लिखी गई है। भद्रवाहु चरित्र १५ वीं १६ वीं शताब्दी का लिखा हुआ प्रकट होता है[1]। इस ग्रन्थ में भद्रवाहु और चन्द्रगुप्त का वर्णन मिलता है। फिर नहीं मालूम इसी के आधार पर लिखे हुए पुण्याश्रव में उसके संग्रहकर्त्ता ने दो चन्द्रगुप्तों का उल्लेख क्यों और किस ग्रन्थ के ऊपर से किया है। प्राचीनता के नाते उक्त कथाकोष का कुछ महत्व है ही नहीं। इस संग्रहीत कोष के सिवा अन्य किसी भी प्राचीन ग्रन्थों में दो चन्द्रगुप्तों का उल्लेख नहीं मिलता। अतएव विना और प्रमाण मिले उक्त कथा पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। पुण्याश्रव कथाकोष का यह लेख कि अशोक का पौत्र चन्द्रगुप्त भद्रबाहु के साथ दक्षिण की ओर गया" उसी के मत से मान्य किये जाने योग्य नहीं, या यूं कहिये कि कल्पित ठहरता है। क्यों कि उक्तकोष के पृ० २१२ में नन्दवंश के अन्तिम राजाके समयमें भद्रवाहु का आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होना तथा इसी नन्द को हटाकर अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त का मौर्यसाम्राज्य-स्थापन करने का उल्लेख है। अर्थात्

१—जैन-शिलालेख-संग्रह पृ० भू० ८८।

उक्त कोप के अनुसार भी आचार्य भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त प्रथम समकालीन सिद्ध होते हैं। दि० जैनग्रन्थों के अनुसार भद्रबाहु आचार्य पद पर २९ वर्ष प्रतिष्ठित रह कर स्वर्गासीन हुये[1]। और ऐतिहासिक विद्वानों के लेखानुसार चन्द्रगुप्त प्रथम ने २४ वर्ष राज्य किया। इससे भी प्रमाणित होता है कि भद्रबाहु आचार्य की सेवा करने का सौभाग्य साधु होने पर चन्द्रगुप्त को ५ वर्ष तक मिला होगा और भद्रबाहु के स्वर्गासीन होने पर एकले चन्द्रगुप्त वर्षों कठोर तपश्चरण करते रहे, यही उल्लेख जैन-साहित्य में मिलता है। पुण्याश्रव कथा के आधार पर स्थिर किया हुआ विद्यालङ्कार जी का मत तभी मान्य किये जाने योग्य होता जब भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त द्वितीय (सम्प्रति) समकालीन हुये होते। भद्रबाहु तो ३२२ ई० पूर्व आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होते हैं और २९३ ई० पूर्व में स्वर्गासीन होते हैं, अर्थात् अशोक के पौत्र सम्प्रति (द्वितीय चन्द्रगुप्त) के राज्यारोहण (२१६ ई० पूर्व) से ७७ वर्ष प्रथम स्वर्गारोहण हो जाते हैं तब अशोक के पौत्र सम्प्रति का भद्रबाहु के साथ दीक्षा लेने का सम्बन्ध क्योंकर ठहराया जा सकता है ? यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि "चन्द्रगुप्त द्वितीय के साथ तपश्चरण करने वाले भद्रबाहु भी कोई द्वितीय होंगे"। यह कथन भी निर्मूल ठहरता है क्यों कि दिगम्बर पट्टावलियों में महावीरस्वामी

1—जैन-शिलालेख-संग्रह पृ० ६६।

के समय से लगाकर शक की पाँचवीं छटी शताब्दी तक भद्रबाहु नाम के केवल दो आचार्यों के उल्लेख मिलते हैं। एक तो अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु जिनसे सरस्वतीगच्छ की नन्दी आम्नाय की पट्टावली प्रारम्भ होती है, और दूसरे वे भद्रबाहु जिन का समय ई० पूर्व ५३ वर्ष व शक सं० १३१ वर्ष पूर्व पाया जाता है[1] अर्थात् प्रथम भद्रबाहु चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यारोहण से ७७ वर्ष पूर्व और द्वितीय भद्रबाहु चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु से भी १५४ वर्ष पश्चात् होते हैं। दोनों ही भद्रबाहु चन्द्रगुप्त द्वितीय (सम्प्रति) के समकालीन नहीं होते। अतएव विवश होकर यही मानना पड़ता है कि अशोक का पितामह चन्द्रगुप्त जो भद्रबाहु के समकालीन हुआ है वही राज्य छोड़कर भद्रबाहु के साथ श्रवणबेलगोल में वर्षों तपश्चरण करता रहा और 'पुण्याश्रव-कथा' के दो चन्द्रगुप्तों का उल्लेख इसलिये मान्य किये जाने योग्य नहीं क्यों कि वह प्राचीन नहीं और जिस ग्रन्थ के आधार पर उक्त कथा लिखी गई है उसमें केवल एक ही चन्द्रगुप्त का कथानक है दूसरे का नहीं। दूसरे उक्त कोष में पूर्वा पर विरोध मिलता है। जब नन्दवंश के अन्तिम राजा के समय में भद्रबाहु वृद्धावस्था होने पर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुये तब उन्हें १०२ वर्ष तक और जीवित बतलाना—जब कि दिगम्बर पट्टावलियों में उनके आचार्य पद पर २९ वर्ष

१—जैन-शिलालेख-संग्रह पृ० ६५।

प्रतिष्ठित रहने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—भूलभरा नहीं तो और क्या है ?

२—दूसरी युक्ति कुछ सवल नहीं है। जब चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार के नाम विष्णुपुराण में 'कलियुग राजवृतान्त' दीपवंश में 'बिन्दुसार', वायुपुराण में 'भद्रसार' तथा कुछ अन्य पुराणों में 'वारिसार मिलते हैं और ग्रीक-लेखकों के लेखों में "अमित्रघात" नाम मिलता है। तब राजावलि-कथा के अनुसार बिन्दुसार का अपर नाम 'सिंहसेन' मानने में क्या आपत्ति है ? विद्यालङ्कारजी की दूसरी युक्ति तब भी मान्य किये जाने योग्य होती जब कि सम्प्रति के पुत्र का नाम सिंहसेन होता। यदि सम्प्रति के पुत्र का उपनाम सिंहसेन अनुमान से माना जा सकता है, तब चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार का ही उपनाम सिंहसेन मान लेने में क्या असुविधा पड़ती है ? वा० पद्मराजजी रानीवालों ने अपने एक लेख में बिन्दुसार का उपनाम "सिंहसेन" और सिंहसेन के पुत्र अशोक का उपनाम "भास्कर" लिखा है[1]।

३—विद्यालङ्कारजी का यह कथन कि "भद्रबाहु-चरित्र में इस बात के लिये कोई निर्देश नहीं कि भद्रबाहु का शिष्य कौन सा चन्द्रगुप्त है ? चन्द्रगुप्त नाम के अनेक सम्राट् हुये हैं"। इसके उत्तर में निवेदन है कि मौर्य-राजाओं में चन्द्रगुप्त नाम का एक ही सम्राट् हुआ है, जो अशोक

1—जैन-सिद्धान्त-भास्कर वर्ष १ कि० पृ० १३-१४।

का पितामह और मौर्य-साम्राज्य का संस्थापक था। अशोक के पौत्र का नाम तो सम्प्रति था, उसका नाम चन्द्रगुप्त (द्वितीय) पुण्याश्रव-कोष के सिवा और किसी साहित्यमें नहीं आता और न किसी ऐतिहासिक विद्वान् ने ही अशोक के पौत्र सम्प्रति को चन्द्रगुप्त द्वितीय लिखा है। केवल पुण्याश्रव-कोष (जिसमें इधर उधर की कथाओं का संग्रह मात्र है और जिस भद्रबाहु-चरित्र से कोष के संग्रहकर्ता ने कथा ली है, उसमें भी दो चन्द्रगुप्तों का उल्लेख नहीं मिलता) के आधार पर सम्प्रति को चन्द्रगुप्त द्वितीय मान लेना न्याय-संगत नहीं। हाँ, मौर्य-राजाओं के अलावा और भी चन्द्र-गुप्त हुये हैं। प्रोफ़ेसर हीरालालजी लिखते हैं:—"दूसरे भद्रबाहु जो कि इ० पू० ५३ व श० सं० १३१ वर्ष पूर्व में हुए हैं, इनके भी शिष्य का नाम 'गुप्तिगुप्त' पाया जाता है, जो इनके पश्चात् पट्ट के नायक हुये। डा० फ्लीट का मत है कि दक्षिण की यात्रा करने वाले ये ही द्वितीय भद्र-बाहु हैं और चन्द्रगुप्त उनके शिष्य गुप्तिगुप्त का ही नामा-न्तर है। पर इस मत के सम्बन्ध में कई शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। प्रथम तो गुप्तिगुप्त और चन्द्रगुप्त को एक मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है, दूसरे इससे उपर्युक्त प्रमाणों में जो चन्द्रगुप्त नरेश के राज्य त्यागकर भद्रबाहु से दीक्षा लेने का उल्लेख है, उसका कुछ खुलासा नहीं होता, और तीसरे जिस द्वादश-वर्षीय-दुर्भिक्ष के कारण भद्रबाहु ने

दक्षिण की यात्रा की थी, उस दुर्भिक्ष के द्वितीय भद्रबाहु के समय में पड़ने के कोई प्रमाण नहीं मिलते। इन कारणों से डा० फ्लीट की कल्पना बहुत कमज़ोर है और अन्य कोई विद्वान् उसका समर्थन नहीं करते। विद्वानों का अधिक झुकाव अब इसी एकमात्र युक्तिसंगत मत की ओर है कि दक्षिण की यात्रा करने वाले भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही हैं और उनके साथ जाने वाले उनके शिष्य चन्द्रगुप्त स्वयं भारत-सम्राट् चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है[१]"। भद्रबाहु-चरित्र में उसी एक चन्द्रगुप्त का उल्लेख है जो भद्रबाहु के समकालीन हुआ है और जिसके समय में १२ वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़ा है। जैन-साहित्य के अनुसार न तो सम्प्रति के समय में १२ वर्ष का दुर्भिक्ष ही पड़ा है और न ही कोई भद्रबाहु नाम के आचार्य हुये हैं। पहिले भद्रबाहु चन्द्रगुप्त द्वितीय (सम्प्रति) के राज्यारोहण से ७७ वर्ष पूर्व और दूसरे भद्रबाहु चन्द्रगुप्त द्वितीय (सम्प्रति) की मृत्यु से १५४ वर्ष पीछे होते हैं। फिर यह कैसे माना जा सकता है कि सम्प्रति ही चन्द्रगुप्त द्वितीय थे और यही भद्रबाहु आचार्य के साथ दक्षिण को गये थे! भद्रबाहु-चरित्र में मौर्य-साम्राज्य-संस्थापक चन्द्रगुप्त का परिचयात्मक निर्देश ग्रन्थकर्ता ने इसीलिये नहीं किया होगा, कि वह अत्यन्त प्रसिद्ध सम्राट् हुआ है। उसने अपने

१—जैन-शिलालेख-संग्रह पृ० ६५।

कुल-पिता आदि के नाम से संसार में ख्याति प्राप्त नहीं की थी, अपितु व्यक्तिगत पराक्रम से प्रसिद्धि पाई थी, दूसरे उसका अशोक, सम्प्रति आदि की तरह पूर्व इतिहास कुछ गौरवास्पद तथा प्रसिद्ध भी नहीं था। सिकन्दर, अकबर, शिवाजी जैसे संसार प्रसिद्ध व्यक्तियों का और उनके प्रतिद्वन्दी पोरस, प्रताप, औरंगजेब का जब कोई लेखक अथवा व्याख्यानदाता उल्लेख करता है, तब सर्व साधारण बग़ैर उनका विशेष परिचय प्राप्त किये, समीकरण कर लेते हैं। हालाँकि इन नामों के समय २ पर अनेक व्यक्ति हुये हैं अथवा विद्यमान हैं। अतः भद्रबाहु-चरित्र में उसी चन्द्रगुप्त का उल्लेख है जो प्रथम भद्रबाहु के समकालीन था और जिसके राज्यासन में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा था। और वह चन्द्रगुप्त अशोक का पितामह था जैसा कि साहित्य, शिलालेख और पट्टावलियों से प्रकट होता है।

४—परिशिष्टपर्व एक प्रसिद्ध श्वेताम्बर जैन-ग्रन्थ है। इसके लेखानुसार भी अशोक का पितामह चन्द्रगुप्त और आचार्य भद्रबाहु प्रथम समकालीन प्रमाणित होते हैं। यथाः "भगवान् श्री महावीर स्वामी के निर्माण बाद १५५ एकसौ पचपन वर्ष पीछे नवमे नन्द की राज्यगद्दी पर चन्द्रगुप्त राजा हुआ[1]। और इसी संवत् में श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने भद्रबाहु का आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होना माना है। स्वयं परिशिष्टपर्व

१—परिशिष्टपर्व भाग २ रा पृ० ८१

के कर्त्ता श्रीहेमचन्द्राचार्य लिखते हैं:—"भगवान् श्रीमहावीर स्वामी के मोक्ष गये बाद १७० वर्ष व्यतीत होने पर श्री भद्र-बाहु स्वामी अपने पद पर श्री स्थूलभद्र को निविष्ट करके स्वर्गासीन हुये[1]।" इस ग्रन्थ के अनुसार भी भद्रबाहु का स्वर्गवास अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त के जीवित रहते हुये ही होगया, वह सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के शासन-काल तक जीवित नहीं रहे। सम्प्रति के शासन-काल में आर्यमहागिरि और आर्यसुहस्ति नाम के दो आचार्य थे जो भद्रबाहु आचार्य के परशिष्य और स्थूलभद्र के शिष्य थे[2]। इन्हीं आर्यमहागिरि की मृत्यु के साथ सम्प्रति की मृत्यु का उक्त ग्रन्थ में उल्लेख है[3]। साथ ही इसी ग्रन्थ में चन्द्रगुप्त के शासनकाल में १२ वर्ष का दुर्भिक्ष होना भी स्वीकार किया है[4]। तब जो दुर्भिक्ष चन्द्रगुप्त के शासनकाल (२९८ ई०पू०) में पड़ा वह सम्प्रतिके राज्यसमाप्ति तक(२०७ई० पू०) अर्थात् ९१ वर्ष तक पड़ता रहा, यह अनहोनीबात कौन मान सकता है? अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त का भद्रबाहु के साथ दीक्षा लेकर दक्षिण को जाने आदि का उल्लेख परिशिष्ट पर्व में इसी लिये नहीं किया गया मालूम होता, क्योंकि यह

१—परिशिष्ट पर्व २ रा भाग पृ० १०४।
२ „ „ पृ० १०७।
३ „ „ पृ० ११७।
४ „ „ पृ० ८४।

कथानक दिगम्बर सम्प्रदाय को महत्व देता है, इसी काल जैनधर्म में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों का नाश-कारी विवाद चल पड़ा था, परिशिष्टपर्व के ग्रन्थकर्त्ता हेमचन्द्र प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य हुये हैं, इसीलिये उक्त ग्रन्थ में चन्द्र-गुप्त का भद्रबाहु और श्रवणबेलगोल के साथ कोई सम्बन्ध नहीं मिलता। फिर भी उक्त ग्रन्थ में अशोक के पितामह चन्द्र-गुप्त और भद्रबाहु आचार्य को समकालीन माना है और चन्द्रगुप्त के राज्य के अन्त में १२ वर्ष के दुर्भिक्ष को स्वी-कार किया है। श्वेताम्बर ग्रन्थों के इतर जितने भी चन्द्रगुप्त सम्बन्धी दिगम्बर ग्रन्थ या शिलालेख हैं वे सब चन्द्रगुप्त प्रथम और भद्रबाहु तथा श्रवणबेलगोल का सम्बन्ध जोड़ने में एक मत हैं।

५—श्रीयुत राइससाहब का यह लिखना कि "दो चन्द्रगुप्तों का लिखा जाना प्राचीन अनुश्रुति में कुछ गड़बड़ का परि-णाम है और जैन-लेखकों ने भूल से चन्द्रगुप्त को—वस्तुतः जो अशोक का पितामह था—अशोक का पौत्र लिख दिया है।" बिल्कुल सही प्रतीत होता है, क्योंकि अशोक के पौत्र के साथ भद्रबाहु का कोई मिलान ही नहीं खाता, क्योंकि सभी जैन-ग्रन्थ भद्रबाहु और अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त को समकालीन लिखते हैं। स्वयं पुण्याश्रवकोष के संग्रहकर्त्ता ने आचार्य भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त का एक साथ होना लिखा है। परिशिष्टपर्व ने चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में

दुर्भिक्षका होना माना है,फिर यह कैसे सम्भव प्रतीत हो सकता है कि जो दुर्भिक्ष चन्द्रगुप्त के समय में पड़ा वह सम्प्रति के समय तक अर्थात् ९१ वर्ष तक बना रहा और जो भद्रबाहु चन्द्रगुप्त के राज-त्याग से ५ वर्ष पश्चात् स्वर्गासीन होजाते हैं, उनका सम्प्रति के साथ सम्बन्ध जोड़ने का साहस क्यों कर किया जा सकता है ? विद्यालंकार जी का यह लिखना कि "हम श्रीयुत राइससाहब की बात मान लेते यदि जैन-साहित्य में अशोक के पौत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय के वर्णन के साथ साथ, उसके पितामह चन्द्रगुप्त का वर्णन न आता" कुछ युक्तियुत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि पुण्याश्रव कोप के संग्रह कर्त्ता ने ही दो चन्द्रगुप्तों का केवल ज़िक्र किया है। इस संग्रहीत कोप का मौलिकता और प्राचीनता के नाते कुछ महत्व भी नहीं है और यदि इसी कोप की तरह और जैन-साहित्य में भी दो चन्द्रगुप्तों का होना लिखा मिल भी जाय तब भी क्या हानि है ? भद्रबाहु के साथ तो उसी चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध जोड़ा जा सकेगा जो उनके समकालीन हुआ है। विद्वान् लेखक की युक्ति तब तो मान्य हो सकती थी जब द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय में भी कोई भद्रबाहु हुये होते। द्वितीय चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण तो भद्रबाहु की मृत्यु से ७७ वर्ष पश्चात् होता है और मृत्यु भद्रबाहु के परशिष्य आर्यमहागिरि के समय में होती है।

यहाँ एक बात विचारणीय है जिस पर विद्यालंकारजी

का भी ध्यान नहीं गया और वह यह कि दि० जैनग्रन्थों के अनुसार भद्रबाहुका आचार्य पद वीर नि०सं० १३३ से १६२ तक अर्थात् २९ वर्ष रहा जो प्रचलित नि० सं० (२४५८) के अनुसार ई० पू० ३९४ से ३६५ तक पड़ता हैं तथा इतिहासानुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य ई० पू० ३२२ से ई० पू० २९८ तक माना जाता है, इस प्रकार भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के मध्य में ६७ वर्ष का अन्तर पड़ता है। श्वेताम्बर-ग्रन्थों के अनुसार भद्रबाहु का समय वी० नि० सं० १५६ से १७० तदनुसार ई० पू० ३७१ से ३५७ तक सिद्ध होता है[1]। इस गणना से भी चन्द्रगुप्त के राज्य-त्याग का समय भद्रबाहु की मृत्यु के ५९ वर्ष पीछे ठहरता है और इसलिये भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त के श्रवणबेलगोल में अनशनव्रत करके प्राण त्यागने की बात कपोल कल्पित ठहरती है। दूसरी बात यह है कि श्री हेमचन्द्राचार्य कृत परिशिष्टपर्व के लेखानुसार चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण वीर नि० सं० १५५ में हुआ[2]। और ऐतिहासिक विद्वानों ने बहुमत से चन्द्रगुप्त की राज्य-प्राप्ति का समय ई० पू० ३२२ निश्चित किया है। इस हिसाब से वी० नि० सं० और ई० स० में जो ५२७ वर्ष का प्रसिद्ध अन्तर है। यदि ५२७ में से १५५ कम करते हैं तो ३७२ ई० पू० चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ठहरता है जोकि पुरातत्त्व-

---

१—जैन-शिलालेख-संग्रह पृ० ६६।

२—परिशिष्टपर्व भाग २ रा पृ० ८१।

वेताम्रों को मान्य नहीं। अतः यह ५० वर्ष का अन्तर भी जैनकथाओं पर विश्वास करने में काफ़ी बाधा ही उपस्थित नहीं करता अपितु चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु का जो सम्बन्ध जैन-साहित्य और शिलालेखों में मिलता है, वह सबका सब भ्रमात्मक प्रतीत होने लगता है।

यद्यपि दिगम्बर और श्वेताम्बर-ग्रन्थों में कई बारीकियों में मतभेद है, पर इन भेदों से ही मूलबातों की पुष्टि होती है। क्योंकि उनसे यह सिद्ध होता है कि एक मत दूसरे मत की नकलमात्र नहीं है, व मूल बातें दोनों के ग्रन्थों में प्राचीन काल से चली आती हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बराचार्यों ने जो चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का समय निश्चित किया है। इससे भी भिन्न दिगम्बर और श्वेताम्बर-ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। "त्रिलोकप्रज्ञप्ति" नामक ई० स० की दूसरी शताब्दी में बने हुये प्राचीन ग्रन्थ में लिखा है कि "मुकुटधर राजाओं में सब से अन्तिम राजा चन्द्रगुप्त ने जैनधर्म की दीक्षा ली। उसके बाद किसी मुकुटधर राजा ने जैन-धर्म की दीक्षा ग्रहण न की।" इसी ग्रन्थ में लिखा है कि "जिस समय वीर भगवान् मोक्ष गये ठीक उसी समय अवन्ति (चण्डप्रद्योत) का पुत्र 'पालक' राज्याभिषिक्त हुआ उसने या उसके वंश ने ६० वर्ष तक राज्य किया, उसके बाद १५५ वर्ष तक विजयवंश (नन्द-वंश से अभिप्राय है) के राजाओं ने, फिर इनके बाद मौर्यों ने

राज्य किया[१]"। उक्त प्राचीन ग्रन्थ की पुष्टि श्वेताम्बराचार्य श्री मेरुतुङ्गकृत "विचार श्रेणी"—जिसे स्थविरावली भी कहते हैं—से भी होती है, इसमें 'जंरयणिकालगओ' आदि कुछ प्राकृत-गाथाओं के आधार पर यह प्रतिपादन किया है कि—जिस रात्रि को भगवान् महावीर पावापुर में निर्वाण को प्राप्त हुये उसी रात्रि को उज्जयनि में चण्डप्रद्योत का पुत्र 'पालक' राजा राज्याभिषक्त हुआ। इसका राज्य ६० वर्ष तक रहा, इसके बाद क्रमशः नन्दों का १५५ वर्ष, मौर्यों का १०८ वर्ष" वगैरह। उक्त दोनों ग्रन्थों के अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्यारोहणकाल वी० नि० सं० २१५ तदनुसार ३१२ ई० पू० होता है और यह कालगणना ऐतिहासिक विद्वानों के अनुकूल पड़ती है। यद्यपि चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ३२२ ई० पू० माना जाता है, फिर भी कई विद्वान् ३१२ ई० पू० भी निश्चित करते हैं। मालूम होता है परिशिष्ट पर्व के कर्ता 'पालक' राजा के राज्यकाल के ६० वर्ष पृथक न लिखकर नन्दवंश के १५५ वर्ष में ही सम्मिलित लिख गये, इसी से यह सब कुछ गड़बड़ पैदा हुई है। यही कारण है कि भद्रबाहु का आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होना चन्द्रगुप्त की तरह परिशिष्ट पर्व के ग्रन्थकर्त्ता ने वी० नि० सं० १५५ लिखा है। अतएव भद्रबाहु का समय भी उक्त दोनों ग्रन्थों के उल्लेख से चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के साथ आन पड़ता

१—वीर वर्ष ६ अङ्क ६ पृ० ७।

है। भद्रबाहु नवें नन्द के अन्त समय में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुये यह पुण्याश्रव के संग्रहकर्त्ता ने भी लिखा है। तब उनका और चन्द्रगुप्त का समकालीन होना और दक्षिण में तपश्चरण करना अकाट्य ठहरता है।

दूसरी बात विचारणीय ये है कि यदि विद्यालंकारजी के मतानुसार अशोक का पौत्र सम्प्रति जैन था अशोक का पितामह चन्द्रगुप्त जैन नहीं था। तब अशोक का पितामह किस धर्म का अनुयायी था और मौर्यराज-वंश में किस धर्म की मान्यता थी? यह एक प्रश्न है जो स्वाभाविकतया उठता है, किन्तु विद्यालंकार जी ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है। मौर्य-राज्य घराने में किस धर्म की मान्यता थी? आगे इसी पर प्रकाश डाल देना आवश्यक प्रतीत होता है।

मौर्यकालीन भारत में मुख्य चार—ब्राह्मण, आजीवक, बौद्ध, जैन,—धर्म प्रचलित थे[१]।

मौर्यकाल से कुछ ही पूर्व ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध काफ़ी प्रचार हो चुका था। लोगों की श्रद्धा वेदों के कर्मकाण्ड से उठ चुकी थी। ब्राह्मण-धर्म के प्रतिद्वन्दी जैन और बौद्ध-धर्म अत्यन्त उन्नति पर थे। मौर्यराजा भी वेदों के विरुद्ध थे, जैसा कि श्री० के० पी० जायसवाल ने विद्यालङ्कार जी के मौर्य-साम्राज्य के इतिहास की भूमिका लिखते हुए लिखा है:—"ये

१—अशोक के धर्म लेख सप्तमस्तम्भ।

मौर्य महाराज वेदों के कर्मकाण्ड को नहीं मानते थे, और न ब्राह्मणों की जाति को अपने से ऊँचा मानते थे और न वे अपनी कीर्ति गाथाएँ उनसे लिखवाते थे।" विद्यालंकारजी भी मौर्यराजाओं को ब्राह्मण-धर्मावलम्बी नहीं मानते हैं। वे इन राजाओं को जैन और बौद्ध प्रकट करते हैं। मौर्य साम्राज्य का पतन दिखलाते हुये वे लिखते हैं कि 'परिणाम यह हुआ कि लोग बौद्ध और जैन सम्राटों का इस धर्म-विजय से तंग आगये और ब्राह्मण-तत्त्व ने पुष्यमित्र के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया[1]।" मौर्यराजा ब्राह्मण-धर्मावलम्बी नहीं थे, यही कारण है कि उस समय के ब्राह्मण-ग्रन्थकारों ने इन पराक्रमकारी राजाओं के प्रति गहरी उपेक्षा दिखाई है, उनके महान् कार्यों का कहीं भी उल्लेख नहीं किया, अपितु उनको अनार्य जैसे घृणित शब्द से सम्बोधन किया है। अन्त में ब्राह्मण-धर्मावलम्बी पुष्यमित्र ने अपने स्वामी—मौर्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ—को छल पूर्वक मार कर मौर्य-साम्राज्य का अन्त कर दिया। उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य राजा वैदिक-मतानुयाई नहीं थे।

मौर्य-राजाओं में किसी ने भी आजीवक-धर्म स्वीकार किया हो, ऐसा प्रमाण कहीं भी नहीं मिलता। प्राचीन-साहित्य, शिलालेख, ताम्रपत्र आदि सभी इस सम्बन्ध में मौन हैं। यद्यपि उस समय आजीवक-धर्म प्रचलित था।

१—मौर्य-साम्राज्य का इतिहास पृ० ६७१।

तथापि वह जैन और बौद्ध-धर्म की तरह व्यापक और राज्य-धर्म नहीं हो पाया था। मौर्य-राजाओं के पूर्व भी किसी राजवंश में इस धर्म की मान्यता का उल्लेख नहीं मिलता। यदि मौर्यवंश में किसी ने भी यह धर्म स्वीकार किया होता तो आजीवक-ग्रन्थकार इसका उल्लेख अवश्यमेव बड़े गर्व के साथ करते। किन्तु कहीं भी मौर्य घराने में आजीवक धर्म की मान्यता का उल्लेख नहीं मिलता।

बौद्ध-धर्म भी मौर्य-राजाओं का परम्परागत धर्म नहीं था। स्वयं विद्यालङ्कार जी लिखते हैं—'सम्राट् अशोक पहिले बौद्धधर्म के अनुयायी नहीं थे। उन्होंने अपने शासन के आठवें वर्ष में बौद्धधर्म को स्वीकार किया[1]। महावंश, दीपवंश और दिव्यावदान प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रन्थों में अपने धर्म की महत्ता और दूसरे धर्म की हीनता प्रकट करने के लिये, अशोक को बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने से पूर्व बन्धु-घातक अत्यन्त रक्तलोलुपी तथा निर्दयी उल्लिखित किया गया है, हालाँ कि अशोक के धर्मलेखों से उसके बन्धु-घातक होने का खण्डन होता है। तथापि यह स्पष्ट है कि मौर्यवंश में सब से प्रथम बौद्ध-धर्म की दीक्षा सम्राट् अशोक ने ली, अशोक के पूर्वज बौद्ध-धर्म के अनुयायी नहीं थे। अशोक के बौद्ध हो जाने पर उसके समस्त कुटुम्ब ने भी अपना कुलक्रमागत धर्म त्यागकर बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया,

१—मौर्य साम्राज्य का इ० पृ० ४८६।

अथवा मौर्यवंश में पूर्णरूपेण बौद्धधर्म की मान्यता होगई। ऐसा कहीं से भी स्पष्टीकरण नहीं होता। अपितु अशोक का उत्तराधिकारी सम्राट् सम्प्रति प्रसिद्ध जैन-धर्मी था। अशोक की माता एवं स्त्री का महावंश नामक बौद्धग्रन्थ के अनुसार जैनियों से सम्बन्ध लगता था ऐसा प्रो० सतीशचन्द्र विद्याभूषण का मत है[1]। अशोक बौद्ध होने से पूर्व जैन था ऐसा कई विद्वानों का मत है। तथापि मेरी तुच्छ सम्मति में वह जैनकुल में केवल उत्पन्न हुआ था; पर वह राज्यप्राप्ति से पूर्व ही बौद्ध-धर्म की शिक्षाओं का आदर करने लगा था, यद्यपि वह अपने परिवर्तित विचार पूर्ण सामर्थ्य न होने के कारण प्रकट नहीं कर सकता था, तथापि अशोक के मनोभाव को बिन्दुसार समझ गया था। और यही कारण है कि वह अशोक को राज्य न देकर अपने अन्य पुत्र को राज्य का भार सौंपना चाहता था; क्यों कि कोई भी धर्मनिष्ठव्यक्ति अपने विपक्षी धर्म की प्रतिष्ठा अपने कुल में नहीं चाहता। किन्तु बिन्दुसार के बीमार होने पर उसकी अनिच्छा होते हुये भी बौद्धकथाओं के अनुसार अशोक बलपूर्वक मौर्य-साम्राज्य का स्वामी बन गया। राज्य-प्राप्त करलेने पर भी अशोक प्रकट रूप से बौद्ध नहीं हुआ क्योंकि उसमें अभी उन आपत्तियों के सहन करने की सामर्थ्य नहीं थी जो कुल क्रमागत धर्म के विरुद्ध आचरण करने पर आती

1—जैनधर्म का महत्व प्रथम भाग पृ० ७७।

हैं। वह शनैः शनैः सारी परिस्थिति पर काबू पा लेने, कलिंग विजय करलेने और पूर्ण सत्ता प्राप्त करलेने पर प्रकट रूप से बौद्ध-धर्म में दीक्षित हुआ। अशोक के बौद्ध होजाने पर भी उसके सारे कुटुम्बियों ने उत्तराधिकारियों ने बौद्धधर्म स्वीकार नहीं किया। बौद्धधर्म अशोक का व्यक्तिगत धर्म था, वह अशोक के समय में भी राज-धर्म नहीं हो पाया था। इस कथन की पुष्टि दिव्यावदान प्रसिद्ध बौद्धग्रन्थ के निम्नलेख से होती है। "अशोकने बौद्धधर्मके लिये १०० करोड़ का दान देना निश्चित किया वह धीरेधीरे ९० करोड़ तो दे चुका किन्तु १० करोड़ अपने पास न होने के कारण उसने इस धन को राजकोप से देना चाहा। परन्तु वह इस विपय में सफल-मनोरथ नहीं हुआ, क्योंकि उस समय में कुनाल का पुत्र (अशोक का पौत्र) सम्प्रति युवराज था। युवराज ने राज-मन्त्रियों की सहायता से कोपाध्यक्ष को अशोक के लिये राजकोप से दान देने के लिये मना कर दिया। अशोक को इससे अत्यन्त दुख हुआ, वह अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सका।"

यदि बौद्धमत अशोक के समय मेंराज्य-धर्म होगया होता तो युवराज सम्प्रति और मन्त्रियों को इस प्रकार का साहस क्यों कर हो सकता था? इससे स्पष्ट है कि बौद्धमत अशोक का व्यक्तिगत धर्म था उसका मौर्यवंश में पूर्ण रूपेण प्रचार नहीं हो पाया था। जिस प्रकार किसी हिन्दू के मुसलमान,

ईसाई हो जाने पर यह जरूरी नहीं कि उसके स्त्री, पुत्र, माता पिता भी बिना अपनी इच्छा के उसका नवीन धर्म स्वीकार करलें। वह अपने कुलक्रमागत धर्म में ही रहते हैं, ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। और नवीन धर्म स्वीकार करने वाला अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति के अलावा कौटुम्बिक सम्पत्ति वग़ैर अपने कुटम्ब की इच्छा के दान नहीं कर सकता। यही कारण था कि अशोक राज्याधिकारी होते हुये भी राजकोष से बौद्ध-धर्म प्रचार के लिये धन देने में सफल मनोरथ न हो सका और न उसका सारा कुटुम्ब बौद्ध-धर्म में दीक्षित हुआ। जब बौद्ध-ग्रन्थ और पुरातत्त्ववेता एक स्वर से अशोक को राज्यासन के ८ वें वर्ष में बौद्ध होना मानते हैं तब स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के पूर्वज बिन्दुसार, चंद्रगुप्त आदि मौर्यवंशी राजा बौद्ध नहीं थे। अब प्रश्न होता है कि अशोक ने किस धर्म को छोड़ कर बौद्ध-धर्म स्वीकार किया था और उसके पूर्व तथा पीछे मौर्यवंश में किस धर्मकी मान्यता रही।

उपर्युक्त कथन से यह साफ निष्कर्ष निकलता है कि मौर्य-राजाओं का ब्राह्मण, आजीवक और बौद्ध-धर्म कुलक्रमागत धर्म नहीं था। केवल अशोक ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया था। निम्नलिखित प्रमाण मौर्यराजाओं को जैन मानने के लिये बाध्य करते हैं।

चंद्रगुप्त और उसके वंशजों का जैन-साहित्य और शिलालेखों में विस्तार के साथ प्रामाणिक वर्णन मिलता है।

उनको जैनी स्वीकार किया गया है। परन्तु यह कहीं भी लिखा हुआ नहीं मिलता कि उन्होंने अपना पितृ-धर्म छोड़ कर जैन-धर्म स्वीकार किया। जिस प्रकार अशोक के बौद्ध हो जाने पर बौद्ध-लेखकों ने उसका वर्णन किया है, वैसा जैन-ग्रन्थों में उल्लेख नहीं मिलता। जैन-ग्रन्थों में जैसे अन्य कुलक्रमागत जैनों का वर्णन मिलता है उसी प्रकार मौर्य-राजाओं का उल्लेख मिलता है। मौर्यवंश में जैन-धर्म से पूर्व यदि किसी भिन्न-धर्म की मान्यता हुई होती तो जैन-ग्रन्थकारों ने उसके पूर्व धर्म त्यागने और जैन-धर्म स्वीकार करने का वर्णन बड़े गौरव के साथ किया होता। जैसा कि सम्राट् बिम्बसार (श्रेणिक) का बौद्ध से जैन तथा गौतम और पात्रकेशरी का वैदिक-धर्म से जैन-धर्मी होने पर मिलता है।

चन्द्रगुप्त अपने जीवन के अन्त समय में जैनसाधु होगया होगा, यह धारणा भी भ्रमपूर्ण है। क्योंकि जैनसाधु होना कोई साधारण बात नहीं है। जिन महानुभावों ने जैनसाधु देखे हैं या उनके चारित्र और तपश्चरण सम्बन्धी साहित्य पढ़ा है, वे भलीभांति जान सकते हैं कि जबतक गृहस्थ-जीवन में पूर्णतया अभ्यास न किया जाय—जैन-गृहस्थी के कर्तव्यों का पालन न किया जाय—तब तक जैनसाधु होना असम्भव है। प्रारम्भिक जीवन से ही जो जैन-धर्मानुकूल चरित्र का यथा साध्य पालन करते हैं, ऐसे लाखों धर्मात्माओं में से

बिरला ही कोई जैनसाधु होने का साहस कर पाता है, फिर जो इतने बड़े विशाल साम्राज्य का स्वामी होते हुए, भोग-विलास के अनेक साधन प्राप्त होते हुए भ जैन-साधु हो जाता है। उसके लिये यह समझ लेना कि साधु होने से पूर्व यह जैन नहीं था, भ्रमपूर्ण नहीं तो और क्या है? वास्तव में चन्द्रगुप्त गृहस्थावस्था में भी श्रद्धालु जैनी था, तभी वह राज्य-त्यागकर जैनसाधु होने का साहस कर सका। बिन्दुसार भी अपने पितृ-धर्म का पालन करता रहा, यद्यपि जैन-धर्म के प्रति की गई इसकी अमूल्य सेवाओं का कोई उल्लेख नहीं मिलता। तथापि इसने अपने पितृ-धर्म को त्यागकर कोई अन्य धर्म स्वीकार किया हो, ऐसा प्रमाण भी कोई उपलब्ध नहीं होता। जैन-लेखकों के अलावा किसी भी भिन्न धर्मी-लेखक ने बिन्दुसार को अपने धर्म का अनुयायी नहीं लिखा।

"मौर्य-राजा बौद्ध एवं जैन थे इनकी धर्म विजय से तंग आकर ब्राह्मणों ने मौर्य-साम्राज्य के प्रति विद्रोह करके शासन का अन्त कर दिया"—एक स्थल पर विद्यालंकार जी ने ऐसा लिखा है[1]। तब इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के पूर्वज चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार जैन थे क्योंकि मौर्य-राजाओं में सबसे प्रथम २५ वर्ष की अवस्था में केवल अशोक ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया था।

१—मौर्य साम्राज्य का इ० पृ० ६७१।

अशोक के उत्तराधिकारी किस धर्म के अनुयायी रहे यद्यपि यह स्पष्टता से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अशोक के बाद मौर्य-साम्राज्य का इतिहास ठीक उपलब्ध नहीं होता। पुराण, बौद्ध-साहित्य और जैन-ग्रन्थ सभी मात्र वंशावालियाँ देकर चुप रह जाते हैं। तथापि अशोक का पौत्र सम्प्रति जो अशोक के जीवितावस्था में ही राज्य का स्वामी बन गया था, प्रसिद्ध जैनधर्मी राजा हुआ है। विद्यालङ्कार जी लिखते हैं, "सम्राट अशोक का पौत्र और कुनाल का पुत्र सम्राट् सम्प्रति जैनधर्म का अनुयायी था। इसने अपने इष्ट-धर्म के प्रचार के लिये उद्योग किया। बौद्ध-इतिहास में जो स्थान अशोक का है, सम्प्रति का वही स्थान जैन-इतिहास में है[1]।" श्री० के० पी० जायसवाल लिखते हैं:—"अशोक के पोते महाराज सम्प्रति ने दक्षिण देश मात्र को जैन और आर्य बना डाला[2]।" यहाँ ध्यान देने की बात है कि अशोक के बौद्ध हो जाने पर भी उसका उत्तराधिकारी प्रसिद्ध जैनधर्मी होता है। वह अपने पितामह के धर्म का पालन न करके जैनी ही बना रहता है। उसे कहीं भी जैन-लेखकों ने नवदीक्षित जैनी नहीं लिखा, सम्प्रति को कुल-क्रमागत जैन माना है। इधर बौद्ध-साहित्य और अशोक के

१ मौर्यसाम्राज्य का इ० भू० पृ० १२।

२ ,, ,, भू० पृ० ८।

धर्मलेखों से प्रकट होता है कि मौर्य-राजाओं में सब से प्रथम अशोक ने ही बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली। तब क्या सहज में ही इस परिणाम पर नहीं पहुँच सकते कि मौर्य-वंश जैनधर्मानुयायी था, किसी कारण से अशोक ने केवल बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया था।

सम्राट् चन्द्रगुप्त का इतिहास में स्थान

जिस चन्द्रगुप्त ने संसार-विजयी सिकन्दर की पराधीनता से पञ्जाब को स्वाधीन करने में नेत्रत्व ग्रहण किया, कौशल तिरहुत, वाराणसी, अङ्ग तथा मगध के अधिपतियों पर विजय प्राप्त कर अपना साम्राज्य स्थापित किया, और चतुरङ्गणी सेना लेकर सिन्धु से गंगा सागर तक और हिमाचल से विन्ध्याचल तक को कम्पित कर दिया, जिसने अपने अतुल पराक्रम से विजयी सेल्युकस को युद्ध में पराजित कर के १ कावुल, २ कन्धार, ३ हिरात, ४ विलोचिस्तान जैसे बर्वर देश छीनकर और उसकी प्राणप्रिय सुन्दरी कन्या व्याह कर उसे भारत से खदेड़ा, जिसने अपने पराक्रम से आर्य जाति का प्रताप दिग्दिगन्त प्रस्फुरित कर दिया था, जिसने अपने असीम साहस से यूरोप-शिरोमणि ग्रीकों को चकित कर दिया था। उस अतुल वैभवशाली सम्राट् चन्द्रगुप्त का

संसार में क्या स्थान है? यहाँ इसी पर कुछ विवेचन करना है।

१—"भारतवर्ष के इतिहास में मौर्य-साम्राज्य का विशेष महत्व है। ऐतिहासिक विन्सेण्ट ए० स्मिथ ने इस साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यविस्तार का वर्णन करते हुए लिखा है:—"दो हजार साल से भी अधिक हुए, भारत के इस प्रथम सम्राट् ने उस वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त किया था, जिसके लिये उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में आहें भरते हैं और जिसको कि सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों के मुगल सम्राटों ने भी कभी पूर्णता के साथ प्राप्त नहीं किया[१]।"

२—प्रसिद्ध भारतीय पुरातत्त्व वेत्ता श्री० काशीप्रशाद जायसवाल, मौर्यसाम्राज्य के इतिहास की भूमिका में लिखते हैं:—"यह मानी हुई बात है कि चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त मौर्य अपने समय में दुनियाँ भर में सबसे बड़े और बली राजा थे। यह आज कल के ऐतिहासिकों की स्वीकृत की हुई व्यवस्था है। हिन्दू-लेखकों में विशाखादत्त नाटककार ने म्लेच्छों से भारत-भूमि बचाने के उपलक्ष में चन्द्रगुप्त की तुलना विष्णु भगवान् से की है।......ये मौर्य-महाराज वेद के कर्म-काण्ड को नहीं मानते थे और न ब्राह्मणों की

१—मौ० सा० का इ० प्र० पृ० १।

जाति को अपने से ऊँचा मानते थे और न वे अपनी कीर्ति-गाथाएँ उनसे लिखवाते थे। अपने बल और बुद्धि के सहारे सचाई, दया आदि अनीश्वर और ऐहिक धर्मों-द्वारा मुक्त-सिद्धि के पन्थ का प्रचार नक्कारे की चोट से दिगन्त तक करने वाले, सैकड़ों अकबर एक में और कोड़ियों कान्स्टैंटाइन के अवतार से बढ़कर भारत के ये व्रात्य अवैदिक क्षत्रिय सार्वकालिक साम्राज्य अक्षय 'धर्मविजय' स्थापित करने की कामना वाले हुये। ऐसे राजा न उनके पहले हुए थे और न अब तक हुये। जैसे यहाँ अपने को ईश्वर मानने वाले श्रीकृष्ण ऐसे लोकोत्तर मनुष्य हुये, मनुष्य को स्वतन्त्र बनाने वाले बुद्ध ऐसे लोकोत्तर आचार्य हुये, वैसे ही लोकोत्तर हौंसलेवाले, जवहेवाले, विजय-कामना और धार्मिक-पुरुषार्थवाले ये यहाँ महाराज हुये। ये सब नर-रत्न-प्रसवा भारत की कोख में ही हो सकते थे।"

३—श्री मिश्रबन्धु लिखते हैं:—"चन्द्रगुप्त का जीवन प्राय: सभी बातों में सफल रहा। हम देखते हैं कि संसार का सबसे पहला सम्राट् न केवल युद्ध में अप्रतिम विजयी था वरन् शासन-प्रणाली में भी पूरा उन्नायक था। संसारी पने में पड़कर आपने भारी साम्राज्य बनाकर दिखला दिया और फिर त्याग का ऐसा उदाहरण दिखाया कि ५० वर्ष की अवस्था से पहले ही अतुल वैभव को लात मारकर साधारण जैन-भिक्षु का पद ग्रहण कर लिया। इस सम्राट्-श्रेष्ठ

का शौर्य, प्रबन्ध और त्याग तीनों ही मुक्त कण्ठ से सराहनीय हैं[१]।"

४—श्री जनार्दन भट्ट एम० ए० लिखते हैं:—"चन्द्रगुप्त जिस समय गद्दी पर बैठा उस समय उसकी आयु बहुत अधिक न थी। उसने केवल २४ वर्ष तक राज्य किया, इस से मालूम पड़ता है कि वह अपनी मृत्यु के समय ५० वर्ष से कम का रहा होगा। इस थोड़े से समय में उसने बड़े २ काम किये। उसने सिकन्दर की ग्रीक-सेनाओं को भारतवर्ष से निकाल बाहर किया, सेल्युकस को गहरी हार दी, एक समुद्र से लगाकर दूसरे समुद्र तक कुल उत्तरी हिन्दुस्तान को अपने अधिकार में किया, बड़ी भारी सेना संगठित की और बड़े भारी साम्राज्य का शासन अपने बुद्धि-बल से किया। चन्द्रगुप्त की राज्य-शक्ति इतनी दृढ़ता से स्थापित थी कि वह उसके पुत्र बिन्दुसार और पौत्र अशोक के हाथ में बेखटके चली गयी। ग्रीक-राज्यों के शासक उसकी मित्रता के लिये लालयित रहते थे। सेल्युकस के बाद फिर किसी ग्रीक-राजा ने भारतवर्ष पर चढ़ाई करने का साहस न किया और चन्द्रगुप्त के बाद दो पीढ़ियों तक ग्रीक-राजाओं का राजनीतिक और नागरिक सम्बन्ध भारतवर्ष के साथ बना रहा[२]।"

१—भारतवर्ष का इ० ख० २ रा० पृ० १२१।

२—अशोक के धर्मलेख पृ० १४।

चन्द्रगुप्त निस्सहाय अवस्था में उत्पन्न हुआ था, वह आपत्तियों के साथ खेला था। राज्य-प्राप्ति से पूर्व पेटभर भोजन भी मिला होगा इसमें भी सन्देह है। चन्द्रगुप्त के इस संक्षिप्त जीवन के अध्ययन करने से प्रकट होता है कि वह अत्यन्त साहसी, असफलता की चोटों से तनिक भी न हार मानने वाला कर्म-वीर, असम्भव को सम्भव कर दिखाने वाला आशावादी, अपने इरादों का मज़बूत, तलवार का धनी, रण-क्षेत्र का दूल्हा महान् उद्योगी युवक था। वह अत्यन्त हीन-अवस्था में उत्पन्न होते हुये भी उन्नति करते करते विद्रोहियों का नेता बन गया। विद्रोहियों का नेतृत्व स्वीकार करना गोया भिड़ों के छत्तों में हाथ डालना था। दूर की बात जाने दीजिये, जिन्होंने सन् १८५७ के ग़दर के इतिहास का अवलोकन किया है, वे भलीभाँति उन कठिनाइयों से परिचित होंगे, जो विद्रोहानल के फूट पड़ने पर आती हैं। विद्रोही न अपने नेता ही का कहना मानते हैं और न किसी व्यवस्था में ही रहते हैं। वे बड़े से बड़े पदाधिकारी—सेनापति एवं राजा—तक की पगड़ी उछालने में, राजकोष लूटने में निरीह प्रजा पर अत्याचार करने में, किंचित भी सङ्कोच नहीं करते। किन्तु चन्द्रगुप्त ने अपने अलौकिक प्रभाव से विद्रोहियों को संगठित करके और एक शिक्षित सेना बनाकर, जिस योग्यता से युद्ध किया, सेना का संचालन किया ऐसी अद्भुत मिसाल संसार में मिलनी मुश्किल है।

संसार में चन्द्रगुप्त अलावा भी सिकन्दर, महमूद ग़ज़नवी, नादिरशाह, नैपोलियन आदि जैसे प्रसिद्ध विजेता हुये हैं। पर चन्द्रगुप्त में और अन्य विजेताओं में पृथ्वी-आकाश का अन्तर है। संसार में अनेक वीर हुये हैं, कितने ही साम्राज्य-विजय करने में समर्थ हुये, पर चन्द्रगुप्त के समान शासन को सुदृढ़ और संगठित नहीं कर सके और न वे चन्द्रगुप्त के समान शासन-व्यवस्था ही क़ायम कर सके, और यदि कोई महानुभाव शासन-व्यवस्था में भी उन्नायक हुये, तो वे चन्द्रगुप्त के समान न्यायशील, धर्मशील, सदाचारी नहीं हुये। कितने ही न्यायशील सदाचारी विजेता भी हुये पर वह चन्द्रगुप्त के समान भिन्न २ धर्मों पर विश्वास रखने वाली प्रजा को, एक दृष्टि से देखनेवाले, सब धर्मानुयाइयों को समान अधिकार देने वाले नहीं हुये।

रावण और इन्द्रजीत से युद्ध करने वाले राम-लखन की आयु ४० वर्ष के लगभग थी, उनके पास हनुमान, अङ्गद, जैसे सेनापति जामवन्त-सुग्रीव जैसे सलाहकार, नल-नील जैसे इंजीनियर और विभीषण जैसे शत्रु के घर के भेदी थे। इसी प्रकार महाभारत-विजेता भीम और अर्जुन की आयु भी उस समय बड़ी थी, उनके पास ७ अक्षौहणी सुसज्जित सेना का संगठन, कृष्ण जैसे चतुर और राजनीतिज्ञ सारथी फिर अनेक महारथियों, सेनापतियों का संयोग मिला हुआ था। गये हुये राज्य का प्रलोभन, प्रतिहिंसा आदि की आग

यदि विजयी हुये तो कोई आश्चर्य नहीं। ये सब महान् पुरुष थे, पुस्तैनी शाही राजकुमार थे, बचपन से लेकर जीवन प्रर्यन्त क्षत्रियोचित शिक्षा का उत्तमोत्तम साधन मिला था। किन्तु चन्द्रगुप्त ने एक साधारण ग्वाला होते हुये भी, जब कि उसका बचपन का खुमार उतरा भी न था, दूध के दाँत टूट ही पाये थे, मूँछें भी नहीं निकल पाई थीं, जो लोकोत्तर कार्य कर दिखाया वह संसार में किसी से न हो सका। जितने बड़े विशाल साम्राज्य का सङ्गठन चन्द्रगुप्त ने किया और जिस व्यवस्थासे राज्यासन किया वह अकथनीय है। इतना वीर और समृद्धिशाली होते हुये भी संसार के प्रलोभनों में न फँसा। संसार में रहकर परहित के लिये जिया और फिर आत्म-कल्याण करने के हेतु संसार की अतुल सम्पत्ति पर लात मार दी। यह दोनों बातें करके चन्द्रगुप्त ने उन दोनों की आँखें खोलदी। जो कहते हैं—संसार में आओ, खाओ पियो मजे उड़ाओ, यही सब कुछ है न लोक है और न पर-लोक। दूसरे उन लोगों की जो संसार में रहते हुये भी संसार को असार मानकर अकर्मण्य और निठल्ले रहते हैं किसी के रत्तीभर काम नहीं आते, फिर भी जीवन-मुक्त होना चाहते हैं।

भारत में चन्द्रगुप्त के १००० वर्ष पीछे मुसलमान आये और यहाँ शासन किया। कितने ही हिन्दू-कुलङ्गारों ने उन्हें अपनी कन्याएँ देकर सदैव को हिन्दुओं का मस्तक नीचा

कर दिया। किन्तु कोई ऐसा वीर नहीं हुआ जो इनको भारत से बाहर खदेड़ देता, और इनकी कन्याएँ लेकर इन्हें लज्जित कर देता। अतः चन्द्रगुप्त ही एक भारत का प्रथम सम्राट् है जिसने अपने जीवन में भारत को पराधीनता के चंगुल से छुड़ाया और यूरोपशिरोमणि ग्रीक-बादशाह का जामाता बनकर सदा के लिये यूनानियों को मुँह दिखाने योग्य न छोड़ा। यही कारण था कि चन्द्रगुप्त के शासनकाल में फिर विदेशियों को आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ। किंतु चन्द्रगुप्त की यह नीति, पीछे के इन भारतीय नरेशों ने भी बर्ती होती तो भारत को यह दिन देखने का दुर्भाग्य प्राप्त न हुआ होता। भारत में स्वतन्त्रता के लिये भारतवासी जूझ मरे, नष्ट हो गये; किंतु अभीतक स्वतन्त्र नहीं हुये। काश आज चन्द्रगुप्त अपने चतुर चाणिक्य के साथ भारत में होता, तब स्वतंत्रता का वह सुहावना प्रभात—जिसे देखने को ३५ करोड़ भारतवासी उतावले हो रहे हैं—देखने को न मिलता, ऐसा कहने की किसमें सामर्थ्य है?

चन्द्रगुप्त का जीवन उन अकर्मण्य युवकों को जो कहते हैं—'अकेला चना क्या खाक भाड़ फोड़ सकता है?'—बलात् आँख खोलकर बतला रहा है कि एक मनुष्य संसार में सब कुछ कर सकता है। चन्द्रगुप्त में शौर्य, न्याय, नीति विवेक, साहस, सहिष्णुता उदारता, त्याग आदि सभी लोकोत्तम गुण विद्यमान थे। उसके लोकोत्तर जीवन

सम्बन्धी घटनाओं को पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति कहेगा कि—

"चन्द्रगुप्त का इतिहास में पहिलास्थान है।"

जिसके दान-मान की अब भी, होती चर्चा चारों ओर।
भय से जिसके दबे हुये थे, व्यभिचारी, कटुकारी चोर॥
चन्द्रगुप्त की विजय-प्रतिष्ठा राज्य-प्रबन्धक, अद्भुतज्ञान।
तत्कालीन व्यवस्था का है, परदेशी करते गुण-गान॥

—जगन्नारायणदेव शर्मा!
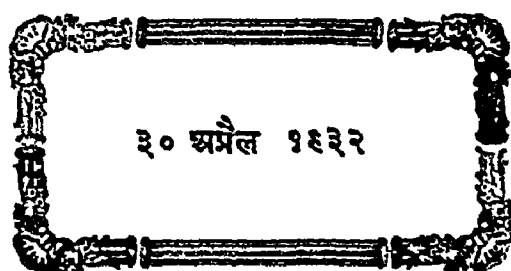
मौर्यसाम्राज्य के जैनवीर

२—बिन्दुसार।

किस्मत हिम्मत की नहीं, नहिं-बल-धीरज-तोल ।
आँक्यो गयो न आजुलौं; बीर-मौलिको मोल ॥
फरति न हिम्मत खेतमें, बहति न असि-व्रत-धार ।
बल-विक्रम की बोरियाँ, बिकति न हाट-बजार ॥

श्री वियोगीहरि

[२]

तलवार का धनी था, शुजाअत में मर्द था।
पाकीज़गी में जोशे-मुहब्बत में फ़र्द था॥
—"इक़बाल"

मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त के राजत्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा लेने पर ई० पू० २९८ में बिन्दुसार अपने पिता के विशाल साम्राज्य के अधिपति हुये और अत्यन्त योग्यता पूर्वक देश का शासन करते हुये ई० पू० २७२ में अर्थात् २६ वर्ष निश्कण्टक राज्य करके स्वर्गासीन हुये। ये अपने पिता के समान वीर, न्यायी और दयालु सम्राट् थे! यद्यपि इनके समय की कोई उल्लेखनीय घटना नहीं मिलती, तथापि अपने पिता चन्द्रगुप्त-द्वारा स्थापित विशाल-साम्राज्य की शासनडोर सम्हालना और राजकीय

व्यवस्था पूर्ण-रूपेण बनाये रखना सम्राट् बिन्दुसार की योग्यता, वीरता का काफ़ी प्रमाण है। राज्यस्थापित होने के थोड़े दिन बाद और सम्राट् की मृत्यु के पश्चात् कैसी कैसी भीषण राज्य-क्रांतियाँ हुआ करती हैं। विद्रोह, राजनैतिक-षड्यन्त्र किस प्रकार फूट पड़ते हैं, तनिक सी भूल होने पर अथवा असावधान रहने पर विश्वासपात्र अधिकारी किस दाव पर शासक को उलट देते हैं? जिन्होंने इतिहास के पृष्ठ उल्टे हैं, राजनैतिक विषय का अध्ययन किया है, वे विज्ञ पाठक बिन्दुसार की कार्य-क्षमता का भलीभाँति अनुभव करसकेंगे।

"बिंदुसार के पुराणों में अनेक नाम उल्लिखित हैं। विष्णपुराण में, 'कलियुग राजवृतान्त,' दीपवंश और महावंश में 'बिंदुसार' वायुपुराण में 'भद्रसार' तथा कुछ अन्य पुराणों में 'वारिसार' शब्द आता है। ग्रीक-लेखकों ने चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी का नाम 'एमित्रोचेटस' (Amitrochatos) लिखा है। डा० फ्लीट के अनुसार इसका संस्कृत स्वरूप 'अमित्रघात' या 'अमित्राघाद' है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि बिंदुसार का ही 'अमित्रघात' दूसरा नाम था[1]।" जैन-ग्रन्थों में बिंदुसार का अपरनाम सिंहसेन भी मिलता है परिशिष्टपर्व प्रसिद्ध जैनग्रन्थ में बिंदुसार के नाम-करण की कथा इस प्रकार लिखी है:—

'चन्द्रगुप्त की सब प्रकार से रक्षा करने के लिये चाणक्य

१—मौ० सा० का इ० पृ० ४२६।

ने यह निश्चय किया कि उसे विष खाने का अभ्यास कराया जाय। वह उसको प्रतिदिन विष खिलाने लगा। एक समय राजमहिषी चन्द्रगुप्त के साथ भोजन करने बैठी। किन्तु उस पर शीघ्र ही चन्द्रगुप्त के विष ने अपना प्रभाव दिखलाया और वह मर गई। उसके पेट में बच्चा था, अतः चाणक्य ने उसका पेट फड़वा कर बच्चा निकलवा लिया। विष की एक बूँद बच्चे के सिर में लगी थी, अतः चाणक्य ने उसका नाम बिंदुसार रक्खा[१]।"

युवावस्था में बिंदुसार जब राज्यासीन हुआ तब उसके दरबार में 'मेगस्थनीज़' का स्थान 'डेईमेकस' नामक राजदूत ने लिया। इस राजदूत ने भी मेगस्थनीज़ की तरह भारत का निरीक्षण करके विस्तृत वृतान्त लिखा था। पर अभाग्यवश उसका लिखा हुआ वृतान्त बहुत थोड़ा मिलता है।

"१६ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध तिब्बती-लेखक तारानाथ ने लिखा है कि—'बिंदुसार ने चाणक्य की सहायता से सोलह राज्यों पर विजय प्राप्त की। उसने इन सोलह राजधानियों के राजाओं और मन्त्रियों को मारकर अपने साम्राज्य को एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक विस्तृत किया"। इन महत्वपूर्ण विजयों का वृतान्त उपलब्ध नहीं होता। परन्तु इससे यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि साम्राज्य-निर्माण के महान कार्य को उसके सुयोग्य पुत्र ने जारी रक्खा। जब

१—परिशिष्ट पर्व पृ० ८६।

इन विजयों का वृतान्त उपलब्ध हो जावेगा, तो निस्सन्देह बिंदुसार को भी चन्द्रगुप्त और अशोक जैसे सम्राटों की श्रेणी में स्थान मिलेगा १।........आचार्य चाणक्य सम्राट् बिंदुसार के भी प्रधान मन्त्री थे, यह बात केवल तारानाथ के कथन से ही पुष्ट नहीं होती, अपितु जैनग्रन्थ भी यही बात प्रकट करते हैं। परिशिष्ठपर्व में चाणक्य और बिंदुसार की कथा उल्लिखित है।

सम्राट बिंदुसार के शासनकाल में तक्षशिला में दो बार विद्रोह हुआ जिसको अत्यन्त योग्यतापूर्वक बगैर किसी रक्त-धारा बहाये शान्त कर दिया गया। भारतवर्ष का विदेशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध जो चन्द्रगुप्त के समय में स्थापित हुआ था, वह बिंदुसार के शासनकाल में भी बना रहा। बिंदुसार के स्वर्गासीन होने पर २७२ ई० पू० में उसका पुत्र अशोक राज्यारूढ़ हुआ। महावंश नामक बौद्धग्रन्थ के अनुसार बिंदुसार के १६ रानियाँ और १०१ पुत्र थे। अशोक ने राज्य के ८ वें वर्ष में बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया था, यह अत्यन्त धर्मनिष्ठ प्रतापशाली राजा हुआ है। २७२ ई० पूर्व अशोक का राज्यकाल समाप्त हुआ और इसका पुत्र कुनाल राज्यारूढ़ हुआ। "बोद्ध और जैन साहित्य के अनुसार कुनाल अन्धा था। इसलिये वह स्वयं राज्य नहीं कर सकता था राज्य की बागडोर अशोक के पौत्र और कुनाल के

१—मौ० सा० का इ० पृ० ४२६-२७।

पुत्र सम्प्रति के हाथ में थी। दिव्यावदान से मालूम पड़ता है कि अशोक के समय में सम्प्रति युवराज था और इस उच्च तथा महत्वपूर्ण पद पर होने के कारण राज्य का बहुत सा कार्य वही करता था। सम्भवतः कुनाल के शासनकाल में भी राज्यकार्य उसी के हाथ में रहा। यही वजह है कि बहुत से ग्रन्थों में अशोक के बाद कुनाल का नाम नहीं लिखा गया, अशोक का सीधा उत्तराधिकारी सम्प्रति को लिख दिया। दिव्यावदान तथा जैन-साहित्य में कुनाल के राजा बनने की बात छोड़ दी गई है।[1]"

१—मौर्यसाम्राज्य का इतिहास पृ० ४४४।
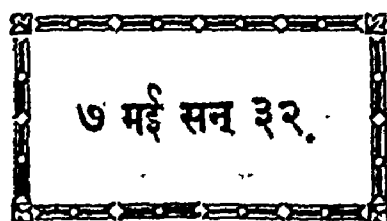
मौर्यवंश का राज्यकाल

चन्द्रगुप्त

[३२२ ई० ०पू से २६८ ई० पू० तक]

|

विन्दुसार

[२६८ ई० पू० से २७२ ई० पू० तक]

|

अशोक

[२७२ ई० पू० से २३२ ई० पू० तक]

|

कुनाल (सुयश)

[२३२ ई० पू० से २२४ ई० पू० तक]

दशरथ (बन्धुपालित)

[२२४ ई०पू० से २१६ ई०पू० तक]

सम्प्रति

[२१६ से २०७ ई० पू० तक]

|

शालिशुक

|

[२०७ ई० पू० से २०६ ई० पू० तक [

|

देववर्मा

[२०६ ई० पू० से १६६ ई० पू० तक]

शतधनुष

[१६६ ई०|पू०से १६१ ई० पू० तक]

बृहद्रथ

[१६१ ई०पू०से १८४ ई०पू० तक]

मौर्यसाम्राज्य के जैनवीर

३—सम्प्रति

जिनके हँगामों से थे, आबाद वीराने कभी ।

शहर उनके मिटगये, आबादियाँ बन होगईं ॥

—"इक़बाल"

[३]

जो वा हिम्मत हैं उनका रहमते हक़ साथ देती है।
क़दम ख़ुद आगे बढ़के मंज़िले मक़सूद लेती है॥

—"नाज़" जैन

श्री सत्यकेतु विद्यालंकार मौर्यसाम्राज्य के इतिहास में लिखते हैं:—

मौर्य इतिहास में सम्राट् सम्प्रति बड़ा महत्वपूर्ण व्यक्ति है। दशरथ की मृत्यु के बाद वह स्वयं राज-सिंहासन पर बैठा। इससे पूर्व बहुत काल तक वह शासन का संचालन करता रहा था। अशोक के समय में वह युवराज था और उसी ने अपने अधिकार से अशोक को राज्य-कोष में से बौद्ध-संघ को दान करने का निषेध कर दिया था। सम्राट् कुनाल के शासन में भी शासन-

सूत्र उसी के हाथ में था। दशरथ के समय में भी वही वास्तविक शासक रहा। यही कारण है कि बहुत से ग्रन्थों में सम्प्रति को ही अशोक का उत्तराधिकारी लिख दिया है। जैन-साहित्य में भी अशोक के बाद सम्प्रति के ही राजा बनने का उल्लेख है।......जैन-साहित्य में सम्प्रति का वही स्थान है, जो बौद्ध-साहित्य में अशोक का। जैन-अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् सम्प्रति जैन-धर्म का अनुयाई था। और उसने अपने प्रिय धर्म को फैलाने के लिये बहुत प्रयत्न किया था। परिशिष्टपर्व में लिखा है कि एक बार रात्रि के समय सम्प्रति को यह विचार पैदा हुआ कि अनार्य देशों में भी जैन-धर्म का प्रचार हो और जैनसाधु स्वच्छन्द रीति से विचर सकें। इसके लिये उसने इन देशों में जैन-साधुओं को धर्म-प्रचार के लिये भेजा। साधु लोगों ने राजकीय प्रभाव से शीघ्र ही जनता को जैन-धर्म और आचार का अनुगामी बना लिया। इस कार्य के लिये सम्प्रति ने बहुत से लोकोपकारी कार्य भी किये। ग़रीबों को मुफ़्त भोजन बाँटने के लिये दान शालाएँ खुलवाईं। इन लोकोपकारी कार्यों से भी जैन-धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली। सम्प्रति द्वारा अनार्य देशों में प्रचारक भेजे गये, इसके प्रमाण अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं। अनेक जैन-ग्रन्थों में लिखा है कि इस कार्य के लिये सम्प्रति ने अपनी सेना के योद्धाओं को साधुओं का वेष बनाकर प्रचार के लिये भेजा था। एक ग्रन्थ में उन देशों में से कतिपय नाम दिये हैं,

जिनमें सम्प्रति ने जैन-धर्म का प्रचार किया था। ये नाम आँन्ध्र, द्रविड, महाराष्ट्र, कुडुक आदि हैं।...जिन प्रभासूरि के अनुसार सम्राट् सम्प्रति ने बहुत से विहारों का भी निर्माण भी कराया था। ये विहार अनार्य देशों में भी बनवाये गये थे।" (पृ० ६४८-५२)

सम्प्रति-द्वारा बनाये गये अनेक जैन-मन्दिरों में से एक का उल्लेख राजपूताने का भ्रमण करते हुये महात्मा टाड साहब ने इस प्रकार किया है:—

"कमलमेर का शेष शिखर समुद्रतल से ३३५३ फिट ऊँचा है। यहाँ से मैंने मरु-क्षेत्र के बहुदूरवर्त्ति स्थानों का प्रान्त निश्चय कर लिया। यहाँ ऐसे कितने ही दृश्य विद्यमान हैं, जिनका चित्र अंकित करने में लगभग एक मास का समय लगने की सम्भावना है। किन्तु हमने केवल उक्त दुर्ग और एक बहुत पुराने जैन-मन्दिर का चित्रांक समाप्त करने का समय पाया था। इस मन्दिर की गठनप्रणाली सब प्रकार से बहुत प्राचीन काल के समान है। मन्दिर के बीच में केवल खिलानयुक्त ऊँची चोटी का विग्रह कक्ष (कमरा) है और उसके चारों ओर स्तम्भावलि शोभित गोल बरामदा है। यह निश्चय ही जैन-मन्दिर है, कारण कि जैन-धर्म के संग हिन्दु-धर्म का जैसा प्रभेद है, हिन्दु-मन्दिर के संग इस मन्दिर की विभिन्नता भी वैसी ही विद्यमान है। भारतवर्ष के बहुत से देवार्चक और शैव लोगों की अधिकाई से कारी-

गरी की हुई मन्दरावाले के संग इस जैन मन्दिर की तुलना करने से अधिक विभिन्नता और इस मन्दिर का सरल गठन तथा अनाडम्बरता दृष्टि गोचर होती है मन्दिर के बहुत प्राचीन होने का उसकी कारीकरी की न्यूनता से ही प्रकट होता है। और इसी सूत्र से हम स्थिर कर सकते हैं कि जिस समय चन्द्रगुप्त के वंशधर सम्प्रति इस प्रदेश के सर्वश्रेष्ठ राजा थे; (क्राइस्टके जन्म के दो-सौ वर्ष पहले) उस समय यह बनाया गया है। किंवदन्ति से ज्ञात होता है कि रजवाड़े और सौराष्ट्र में। जितने प्राचीन मन्दिर आज तक विद्यमान हैं, वही उन सबके निर्माता हैं। मन्दिर के स्तम्भों का आकार और परिमाण दूसरे मन्दिरों की स्तम्भश्रेणी के समान नहीं हैं, वरन् बिल्कुल अलग है। हिन्दु-देवमन्दिरों के स्तम्भ जिस प्रकार से गठित और स्थूल होते हैं, यह वैसे न होकर पतले तथा नीचे से ऊपर का भाग सूक्ष्म हो गया है।… पाठकों के सामने जो-जैन मन्दिर उपस्थित हैं वह ग्रीक-शिल्पकारों के द्वारा बनाया गया है, अथवा राजपूत शिल्पकारों ने ग्रीक-शिल्पकारों के आदर्श पर इसे बनाया है। इसे सत्य व सम्भव कहकर अनुमान करने से कौतूहल उपस्थित होता है।………जैनियों के इस मन्दिर में हिन्दुओं द्वारा "जीवपितृ" का कृष्ण-पाषाण निर्मित खण्ड अन्याय से ही स्थापित कर दिया गया है। यह मन्दिर पर्वत के ऊपर बना हुआ है और वह पर्वत पृष्ठ ही इसका भित्तिस्वरूप होने

से यह काल के कराल दान्तों से चूर-चूर न होकर अबतक खड़ा है। इस के पास ही जैनियों का एक और पवित्र देवालय दिखाई देता है, किन्तु विल्कुल दूसरी रीति से वनाया गया है। यह तिमञ्जिला वना हुआ है, प्रत्येक मंजिल छोटेर असंख्य स्थूल स्थम्भों से शोभायमान है, वह सब स्तम्भ खोदे हुये प्राकार के ऊपर स्थापित हैं और स्तम्भों के ऊपर इस प्रकार की छत है कि सूर्य की किरणें उसके भीतर जाकर अन्धकार दूर करने में समर्थ हैं[१]।"

इस प्रकार जैन—धर्म का प्रचार करता हुआ राजर्षि सम्राट् सम्प्रति २०७ ई० पू० में स्वर्गासीन हुआ। उसके पश्चात् मौर्यवंश के शालिसूक देववर्मा, शतधनुष और वृहद्रथ नाम के चार राजा और हुये। जिन्होंने केवल २२ वर्ष राज्य किया। इन सम्राटों में कौन बौद्ध-धर्मानुयायी और कौन जैन—धर्मावलम्वी रहा। इसका विवरण अभी उपलब्ध नहीं हुआ। अतः सम्प्रति के उत्तराधिकारियों का विशेश परिचय न देकर पाठकों की जानकारी के लिये मौर्य वंश की वंशावली मात्र पृष्ठ १६४ पर अङ्कित कर दी गई है।

१—हिन्दी टाड् राजस्थान पहला भाग द्वि० ख० अ० २६ पृ० ७२१-२३।

मौर्यसाम्राज्य का अन्त

जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना ३२२ ई० पू० सम्राट् चन्द्रगुप्त ने की थी, उसी मौर्य-साम्राज्य का अन्त १८५ ई० पू० में बृहद्रथ के समय में हुआ। अर्थात् १३८ वर्ष भारत पर मौर्य-राजा शासन करते रहे। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने कई राजतंत्र और प्रजातंत्र राज्यों को नष्ट करके एक छत्र की स्थापना की थी। ये बलहीन राज्य समय पाकर प्रबल हो उठे और अवसर पाते ही, पहले काश्मीर, कलिंग, आन्ध्र इसी तरह बहुत से राज्य स्वतंत्र होगये। इधर यवनों, म्लेच्छों वा ग्रीक लोगों के निरन्तर आक्रमणों ने मौर्य-साम्राज्य को बहुत कुछ हिला दिया। ये आक्रमण अशोक के शासनकाल में ही प्रारम्भ होगये थे। मौर्य-राजाओं की धर्म-विजय से ब्राह्मण असन्तुष्ट हो रहे थे, मौर्य-शासन काल में इनका प्रभाव घट रहा था। इसलिये ब्राह्मण-धर्मावलम्बी पुष्यमित्र ने (जो मौर्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ का सेनापति था) विश्वासघात करके अपने स्वामी राजा बृहद्रथ को मार डाला। इस पुष्यमित्र ने एक नये राज्य की स्थापना की जो "सुङ्गवंश' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रसिद्ध साहित्य-सेवी बा० सम्पूर्णानन्द जी लिखते हैं:—भारत के शासनकाल में मौर्य-शासनकाल असामान्य महत्व रखता है। गत तीन सहस्त्र वर्षों में उस समय के समान न तो यह कभी समृद्ध

हुआ, न सबल, न सुसङ्गठित और न सर्वतोमान्य। वह अर्थशासन का मध्याह्न था। उसके पीछे तेज क्षीण होता गया। एक बार गुप्तवंश और पुनः हर्षवर्द्धन के समय में फिर कुछ पुरानी सी प्रभा आई, पर यह अत्यल्प कालीन थी। बुझते हुये दीपक की चमक थी। पीछे से वीर भी हुये, गुणी भी हुये, पर देश की दशा न सुधरी न सुधरी।...... वे (मौर्य) आर्य सभ्यता, आर्य विचार तथा आर्य मर्य्यादा के रङ्ग में डूबे हुये थे। उनके सभी कार्य आर्य नरेशोचित थे। उनका एक भी ऐसा काम न था जो तत्कालीन आर्य-जनता को अपने सिद्धान्तों के प्रतिकूल प्रतीत हुआ हो।" मौर्यवंश धर्म द्वेश के कारण संसार से मिटा दिया गया तथापि उसके वंशजों का उज्वल चरित्र, अपूर्व साहस, राज्य-व्यवस्था, वीरता, धीरता, आदि के उदाहरण आज बाईससौ वर्ष पीछे भी इतिहास के पृष्ठों में सुशोभित हैं।

है अब धाक इन बाँके दिलेरों की शुजाअत की।
लगी हैं सुफ़ये तारीख पर मुहरें शहादत की॥
यह थे वह वीर जिनका नाम सुनकर जोश आता है।
रगों में जिनके अफ़सानों से चक्कर खून खाता है॥

—"नाज़" जैन
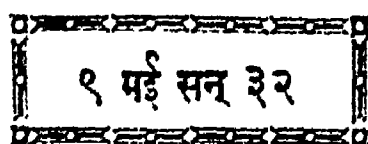
मण्डल के ट्रेक्ट

विवाह—शादियों, उत्सवों और पारितोषिकों में जहाँ आप हृदय खोल कर व्यय करते हैं। वहाँ कुछ मण्डल द्वारा प्रकाशित शिक्षाप्रद, धार्मिक और ऐतिहासिक ट्रेक्ट भी वितरण कीजिये। इससे   । पुस्तक के सुरक्षित रहने तक आप के शुभ कार्य की स्मृति बनी रहेगी। दूसरों को सम्यक् ज्ञान प्राप्त होगा और मुफ्त में ही आप के अमूल्य धर्म का प्रचार भी हो जायगा। ट्रेक्टों का मूल्य लागत मात्र रखा जाता है। यदि हमारे भाई जैन-अजैनों में बांटने के लिये ट्रेक्ट मंगाते रहें तो मण्डल और भी शीघ्रता से अच्छे २ लोकोपयोगी बहुमूल्य ट्रेक्टों का प्रकाशन कर सकता है। अब तक निम्न ट्रेक्ट प्रकाशित हुए हैं:—

१ मिथ्यात्तमोध्व सार्क, ला० श्यामलालजी कागजी, हिन्दी)॥।
२ जैनियों का घोर अत्याचार, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ,, —)॥
३ हितैषी भजन संग्रह प्रथम भाग, कविवर ध्यानतराय ,, —)॥
४ देहलीशास्त्रार्थ, पण्डित मक्खनलालजी शास्त्री ,, ।)
५ जैनतीर्थंकर दर्पण चार्ट, ला० भूरामलजी ,, —)
६ हितैषी गायन संग्रह चतुर्थ भाग, ला० भूरामलजी ,, —)॥
७ द्रव्य-संग्रह, पं० गौरीलालजी शास्त्री ,, =)
८ जैनमित्रमण्डल पर सरसरी नजर, मन्त्रीमण्डल, उर्दू, मुफ्त
९ दी जैन्स ऑफ इण्डिया, स्व० R.B.जुगमंदिरदास अं० ,,

१० जैनिज्म, बा० चम्पतरायजी वैरिस्टर हि० मु०
११ उपासनातत्व, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ,, ,,
१२ अहिंसा ब्र० शीतलप्रसादजी ,, ,,
१३ जैनधर्म का महत्व स्वर्गीय वा० ऋषभदासजी वकील मेरठ ,, ,,
१४ जैनधर्म व परमात्मा, ,, ,, ,, उ० ≈)
१५ मेरी भावना, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार उ० मु०
१६ रेशम के वस्त्र, वा० ज्योतीप्रसादजी देववंद हि० ,,
१७ मेरी भावना, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार उ० ,,
१८ जैनकर्म फिलासफी, स्वर्गीय वा० ऋषभदासजी वकील ,, -)
१९ सुख कहाँ है, वा० ज्योतीप्रसादजी देववंद ,,)।
२० खुलासा मजाहिव, वा० सुमेरचन्द अकाउटेंन्ट ,,)॥
२१ ब्रह्मचर्य, वा० ऋषभदासजी वकील ,,)।
२२ शाहरे निजात, वा० चन्दूलालजैन अख्तर ,,)॥
२३ मोहजाल, वा० ज्योतिप्रसादजी ,,)।
२४ भगवान् महावीर के जीवन की झलक
राय ब० जुगमंदिरदास वैरिस्टर ,,)॥।
२५ रत्नकरंड-श्रावकाचार, पं० गिरधर शर्मा, पद्य -)
२६ सप्तव्यसन या हफ्तएय्यूब, सुमेरचन्दजी अग्रवाल, उर्दू)॥
२७ सामयिकपाठ अर्थात् पियोरथोर्टस
वा० अजितप्रसाद वकील लखनऊ, अं० -)
२८ मेरी भावना, ला० मन्नूलाल जी जौहरी उ० मु०
२९ क्या ईश्वर खालिक है, वा० ज्योतीप्रसादजी ,,)।

३० ज्ञानसूर्योदय दूसरा भाग, बा० सूरजभान वकील „ -)
३१ कलामे पैका, ला० मुन्नूलाल जी जौहरी „ मु०
३२ मजमुआ दिलपजीर, ला० चन्दूलालजी जैन अख्तर „)।
३३ रहनुमा उर्फ जैन धर्म दर्पण, स्व० बा० ऋषभदासजी व० „)॥
३४ सिलकेसदजवाहर, बा० भोलानाथजी मुख्तार „ -)॥
३५ आरजूये खैरवाद, बा० भोलानाथजी „ उर्दू मु०
३६ गुलजारे तखय्युल (भक्तामर स्तोत्र का उर्दू तर्जुमा) „)॥
३७ जैन कनसेपशन, बा० चम्पतरायजी वैरिष्टर, अंग्रेजी =)
३८ जिनेन्द्र-मतदर्पण प्रथम भाग ब्र० शीतलप्रसादजी, हिन्दी मु०
३९ नायाब-गौहर, महर्षि शिवव्रतलाल जी उर्दू)॥
४० वाटइज जैनिज्म, चम्पतरायजी वैरिष्टर, अंग्रेजी)॥
४१ जैनधर्म की अजमत, बा० ऋषभदास जी वकील उर्दू -)
४२ जैनधर्म प्रवेशिका प्रथम भाग, बा० सूरजभान वकील, उर्दू =)
४३ लार्डमहावीरा, हरिसत्य भट्टाचार्य अंग्रेजी =)
४४ रपोर्ट मण्डल, सन् १९१५ से १९२६ तक उर्दू हिन्दी =)
४५ सुबुह सादिक़, स्व० पं० जिनेश्वरदासजीमाइल उर्दू -)॥
४६ हक़ीकते दुनियाँ, बाबू भोलानाथ मुख्तार „ -)
४७ लार्ड महावीरा, बाबू कामताप्रसादजी, अंग्रेजी ।)
४८ जैनधर्म ही भूमण्डल का सार्वजनिक धर्म सिद्धान्त हो सकता है, बाबू माईदयालजी बी० ए० आनर्स, हिन्दी)॥।
४९ भगवान् महावीर और उनका वाज़, बा० शिवलालजी मुख्तार, उर्दू -)

५० रिपोर्ट सन् १९१५ से १९२७ तक, हिन्दी ।)

५१ खयालातेलतीफ़, बाबू भोलानाथजी मुख्तार उर्दू मु०

५२ जैन-धर्म, महर्षि शिवव्रतलालजी बरमन ,, ।)

५३ रिपोर्ट वीर जयन्ती मन्त्री जैनमित्र मंडल, अंग्रेजी ≡)

५४ लार्ड पार्श्वनाथ, मि० हरित्सय भट्टाचार्य एम.ए. बी.एल. अं० ।)

५५ रिपोर्टवीर-जयन्ती सन् १९२७ मन्त्री मित्रमंडल हि० उ० =)

५६ अहिंसा धर्म पर बुजदिली का इल्जाम बाबू शिवव्रतलाल उर्दू)॥

५७ हक़ीक़ते माबूद, बा० भोलानाथ मुख्तार उर्दू)॥

५८ हयाते वीर ,, ,, ,,)॥

५९ सहरे काज़िब ,, ,, ,, –)

६० दी रियलनेचर आफ़ परमात्मा, मि० एन. एस. अगरकर अं० =)

६१ जल्वे का मिल, बाबू भोलानाथ मुख्तार, उर्दू ≡)

६२ लार्ड अरिष्टनेमि, मिस्टर हरिसत्य भट्टाचार्य अंग्रेजी ।=)

६३ जैनधर्म अज़लीं है, बाबू दीवानचन्द जैन =)

६४ आदाबे रियाज़त, बाबू भोलानाथ मुख्तार दरखशां, उर्दू मु०

६५ मुक्ति और उसका साधन, ब्र० शीतलप्रसाद जी हिन्दी –)

६६ ज्ञान सूर्योदय भाग, २ बाबू सूरजभान वकील ,, ≡)

६७ वीर जयन्ती रिपार्ट, सन् २८-२९ जैन मित्र मंडल हि० उ० ।)

६८ फराजे इन्सानी, बाबू शिवलालजी मुख्तार उर्दू)॥

६९ जैनवीरों का इतिहास और हमारा पतन श्री० अयोध्याप्रशादजी गोयलीय, हिन्दी ।)

७० पंचवृत   बाबू भोलानाथजी मुख्तार बुलन्दशाहर, हिं०)॥
७१ रत्नत्रयकुञ्ज,   वैरिस्टर चम्पतरायजी,   ,, –)
७२ हुस्ने-फ़ितरत,   स्व० पं० जिनेसारप्रसादजी माईल   उर्दू मुफ़्
७३ मुक्ति   पं० प्रभाचन्द्रजी न्यायतीर्थ   हिं० ,,
७४ मशायरा सन १९३०   मन्त्री जैनमित्र-मण्डल   उ० ,,
७५ रिपोर्ट मंडल सन १९३०   ,,   ,,   ,,   हिन्दी ,,
७६ जैनी कौन हो सकता है, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, ,, ,,
७७ हयातेऋषभ, बा० भोलानाथजी मुख्तार दरखशां,   उर्दू –)
७८ जैनवीरों का इतिहास,   बा० कामताप्रसादजी,   हिन्दी ।)
७९ मेरी भावना,   पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार   ,, मुफ़्
८० दी न्यूडिटी ऑफ जैनसेंट्स, बा० चम्पतरायजी वैरिष्टर अं० =)
८१ जैन साधुओं की बृहनगी अनुवाद, भोलानाथजी मु० उर्दू –)
८२ दिगम्बर मुनि,   बा० कामताप्रसादजी,   हिन्दी –)॥
८३ हमारी शिक्षापद्धति, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारस, ,, =)
८४ दशभक्ति,   मुनि श्रुतिसागरजी,   संस्कृत मुफ़्
८५ मौर्यसाम्राज्य के जैनवीर;
श्री० अयोध्याप्रसादजी गोयलीय   हिन्दी ।=)
८६ गासपल आफ वर्धमान महर्षि शीवव्रतलालजी वर्मन उर्दू ।)

नोट—नं० १ से ९, ११, १३, १६, १७, १९, से २४, २७ से २९, ३३, ३७, ३८, ४०, ४१, ४३, ४७, ५०, ५२ से ५४ तक के ट्रेक्ट समाप्त हो चुके हैं इन ट्रेक्टों की मांग बराबर आती

रहती हैं और इनके अतिरिक्त इस समय भी मंडल के पास कई ट्रैक्ट प्रकाशित करने के वास्ते मौजूद हैं, किन्तु इनके प्रकाशित करने के लिये द्रव्य की अति आवश्यकता है। जो महाशय ट्रैक्टों के प्रकाशित कराने में अपने अमूल्य धन से सहायता करेंगे उन दानी महानुभावों के शुभ नाम धन्यवाद पूर्वक ट्रैक्टों पर प्रकाशित किये जायेंगे। हमें पूर्ण आशा है, कि जैन-धर्म-प्रेमी इस शुभ कार्य में हमारा हाथ बटायेंगे। और दान करते समय अवश्यमेव इस संस्था का ध्यान रक्खेंगे।

भवदीय

मन्त्री—जैन-मित्र-मंडल

देहली।

शीघ्र छपेगा
राजपूताने के जैनवीर
पढ़ने के लिये हाथ भर के कलेजे की ज़रूरत है। मर्दों की बात जाने दीजिये, भीरु और कायर भी इसे पढ़ते-पढ़ते मूँछों पर ताव न देने लगें तो हमारा जिम्मा। भारत पराधीन क्यों हुआ? विदेशीय यहाँ कैसे आये? राजपूताने में जैन-वीरों की तलवार कैसी चमकी? इन धर्म-वीरों ने सर से कफ़न बाँधकर आतताइयों के घुटने क्यों कर टिकवाये? यही सब रोमाँचकारी ऐतिहासिक दृश्य इसमें देखने को मिलेंगे।